शोध-रचना

मानवता के प्रति आशा और आस्था की महागाथा 'तालाबंदी'

✍ डॉ. उमा देवी

शोध सार

हिंदी साहित्य की प्रतिष्ठित रचनाकार, स्त्री-चिंतन की प्रबल पैरोकार एवं समाज सेविका प्रभा खेतान स्वयं उद्योग जगत में भी मजबूत पकड़ रखती थीं तथा एक सफल उद्यमी थीं। अत: 'तालाबंदी' उपन्यास में अभिव्यक्त व्यापारिक धोखाधड़ी, मजदूर आंदोलन, व्यापारी का मानसिक तनाव और पारिवारिक समस्याएँ तथा व्यापार की कठिनाइयाँ आदि उनके उद्यमी जीवन के कटु अनुभव कहे जा सकते हैं। इन्हीं अनुभवों का लिखित दस्तावेज 'तालाबंदी' है। इसके केंद्र में मार्क्स के साम्यवाद से प्रभावित मजदूर वर्ग और बुर्जुवा का अंतहीन संघर्ष प्रमुख है, जहाँ यूनियनों की गतिविधियों के माध्यम से तथाकथित कम्युनिस्ट नेताओं के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश होता है। एक ओर पिनू जैसे नेताओं को देखकर साम्यवादी संघर्ष पर से विश्वास उठने लगता है तो दूसरी ओर शेखर दा एवं मास्टरजी जैसे प्रेरक कॉमरेड चरित्र मानवता के प्रति विश्वास जगाते हैं। अपने परिवार और कारोबार के घेरों में घिरे श्याम बाबू का आत्मालाप भी विघटित होते मानवीय और नैतिक मूल्यों को प्राणवान बनाता है।

बीज शब्द : उद्योग, व्यापार, मार्क्सवाद, बुर्जुवा, मजदूर, आंदोलन, मानवता।

स्त्री अधिकारों की प्रबल लेखिका प्रभा खेतान अपने मारवाड़ी समाज की रुढ़िवादी मानसिकता के खिलाफ स्त्री होते हुए भी व्यापार और उद्योग जगत से जुड़ी रहीं। अत: व्यापार तथा उद्योगों की समस्याओं तथा उनमें होने वाली राजनीति से वे बखूबी परिचित थीं। आलोच्य उपन्यास 'तालाबंदी' उनके ऐसे ही व्यापारिक अनुभवों का दस्तावेज कहा जा सकता है, जो व्यावसायिक जगत की कथा को धूरी बनाकर लिखा गया है। 'तालाबंदी' उपन्यास मजदूर और बुर्जुवा के उस आपसी संघर्ष को अभिव्यक्त करता है, जिसके केंद्र में ट्रेड यूनियनों का स्वार्थ निहित होता है। यह मार्क्सवादियों की उस मानसिकता को भी उजागर करता है, जहाँ मार्क्सवाद का लाल झंडा उठाने वाले मजदूरों के तथाकथित नेता दोगलेपन या थोथे सिद्धांतवाद के शिकार होते हैं। उनमें मजदूरों की वास्तविक समस्याओं को लेकर व्यावहारिकता का नितांत अभाव पाया जाता है। 'तालाबंदी' केवल उद्योगों में लग रहे ताले का प्रतीक नहीं है, बल्कि यह उद्योगों

समकालीन हिंदी एवं नेपाली कविता : संवेदना के विविध स्वर

डॉ.उमा देवी

समकालीन शब्द ही युगीन संदर्भों में अपनी मौजूदगी का प्रमाण देती है। वास्तव में युगीन सरोकारों से साहित्य का संबंध उसे समकालीन बनाता है। समकालीन कविता से तात्पर्य है ऐसी कविता जिसका अपनी युगीन परिस्थितियों से घनिष्ठ संबंध हो। हिंदी में समकालीन शब्द ही युगीन संदर्भों में अपनी मौजूदगी का प्रमाण देती है। वास्तव में युगीन सरोकारों से साहित्य का संबंध उसे समकालीन बनाता है। समकालीन कविता से तात्पर्य है ऐसी कविता जिसका अपनी युगीन परिस्थितियों से घनिष्ठ संबंध हो। हिंदी में समकालीन कविता कई दौरों को पार करती हुई आज की स्थिति एक पहुँची है। जिसका समय नई कविता के पश्चात् लगभग 1970 से माना जाता है। भारतीय समाज और साहित्य के लिए यह समय मोंहभंग का समय था। रामराज्य की चुनरिया तार-तार हो रही थी। समाज में व्याप्त असमानता, भेदभाव, भुखमरी, राजनैतिक दौड़, सत्ता का लालच, स्वार्थपरता आदि युगीन विसंगतियों ने कवि में आक्रोश एवं विद्रोह भर दिया था। यही आक्रोश और विद्रोह इतना व्यापक हो गया कि उसने कविता की संवेदना और सरोकारों को ही बदलकर रख दिया। यहाँ समकालीन कविता थोथी आदर्शवादिता एवं अति वैज्ञानिकता के प्रति भी विद्रोह की कविता है। यह हाशिए के समुदाय, विषय एवं विचारों को केन्द्र में स्थापित करने की कविता है। अतः समकालीन कविता सशक्त संघर्षशील कविता का वह दौर है जिसके केन्द्र में मानवीय संवेदना, प्रकृति तथा आम मनुष्य प्रमुख हैं।

"समकालीन कविता अपने समय के मुख्य अंतर्विरोधों और द्वन्दों की कविता है। समकालीन कविता में जो हो रहा है का सीधा खुलासा है। इसे पढ़कर वर्तमानकाल का बोध हो सकता है क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, बौखलाते, तड़पते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है।"[1]

समकालीनता के प्रश्न ने हिन्दी साहित्य की तरह अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी उतना ही प्रभावित किया, क्योंकि सदैव से तमाम विविधताओं वाले इस राष्ट्र में एक ही तरह की चिंतनधारा विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रतिबिंबित होती रही है, जो विचारों की भूमि पर हमारी एकता को दृढ़ता प्रदान करती है। राष्ट्रीय और क्षेत्रीय गतिविधियों से उत्पन्न विचारों, चुनौतियों एवं बदलते सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक मानदंड क्षेत्रीय साहित्य में समकालीनता को परिभाषित करते हैं। समकालीनता की इन्हीं प्रवृत्तियों और प्रश्नों से नेपाली साहित्य अछूता नहीं है। नेपाली भाषा, हमारे संविधान की अष्टम अनुसूची में सन्1992 में शामिल होकर अपनी महत्ता प्रतिपादित कर चुकी है। वैसे तो नेपाली भाषी गोर्खाली समुदाय देश के लगभग सभी प्रांतों में निवास करते हैं। फिर भी पूर्वोतर भारत के आठों राज्यों में गोर्खालियों की बहुलता ने यहाँ नेपाली भाषा साहित्य को विकसने के अवसर प्रदान किये हैं। मुख्यतः असम, सिक्किम, दार्जीलिङ (प. बंगाल), मणिपुर, मेघालय जैसे राज्यों में नेपाली साहित्य विविध साहित्यिक विधाओं में अपने सरोकारों को तय कर रहा है जिनमें कविता की स्थिति काफी समृद्ध एवं संतोषजनक है।

नेपाली कविता की एक सुदीर्घ परंपरा विद्यमान है। नेपाली साहित्य के इतिहास को देखे तो नेपाली कविता भी हिन्दी की तरह ही रचना-शिल्प एवं संवेदना के कई दौर जैसे- स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद से गुजरते हुए समकालीन (समसामयिक) चिंतन एवं प्रवृत्तियों को वहन करती है। समकालीन नेपाली कविता को 'नवलेखन' की संज्ञा भी दी गई, क्योंकि इसने प्रयोगवाद की क्लिष्टता से कविता को मुक्त कर उसे संप्रेषणीय बनाया। शिल्प और संवेदना के स्तर पर नए मानक गढ़े। संप्रेषणीयता इसकी प्रमुख विशेषता मानी गई है।

इस प्रकार प्रतिभा राय के इस उपन्यास में हम पाते हैं कि नारी के प्रति समाज ने अन्याय किया है उससे वह कितनी आहत हुई है। अपनी संस्कृति, परम्परा तथा महाभारत की कथा के मूल बातों को और प्रसंगों को बिना जाने हम आज भी द्रौपदी का अपमान करने लगते हैं। जो न केवल उनका अपमान है बल्कि नारी जाति का अपमान करते हैं। क्योंकि आज तक द्रौपदी के जैसी ही कई घटनाएँ समाज में हुई होंगी, कई अम्बाओं ने अपने प्राण त्यागे होंगे, कई सत्यगंधाओं को बलात् अपनाया गया होगा फिर भी उन्हीं को ही हम दोष देते रहते हैं। प्रतिभा राय का यह उपन्यास नारी चेतना को दर्शाने वाला एक सशक्त उपन्यास है। जिसमें समस्त नारी जाति को आह्वान किया जा रहा है कि वह अपने पति हो रहे तरह-तरह के अत्याचारों के प्रति अपनी आवाज उठाए और इस पुरूष प्रधान समाज को अपने ऊपर कोई भी आरोप लगाने का मौका न दें। यदि ऐसा हो भी तो आरोप के विरूद्ध, आरोप लगाने वाले के विरूद्ध संघर्ष करें।

संदर्भ :

1. द्रौपदीप्रतिभा राय, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 2004, भूमिका
2. वही, पृ.सं. 262
3. वही, पृ.सं. 263
4. वही, पृ.सं. 8
5. वही, पृ.सं. 52
6. वही, पृ.सं. 8
7. वही, पृ.सं. 66
8. वही, पृ.सं. 67
9. वही, पृ.सं. 67
10. वही, पृ.सं. 69

संपर्क सूत्र:

लिंक रोड मैन, लेन नं. 3, हाउस नं. 3/27

सिलचर788006, असम

फो. : 03842 241877

मो. : 09859982251, 09435912844

समकालिन हिंदी दलित कहानियों में स्त्री की स्थिति

❑ उमा देवी

वस्तुत: आज का स्त्री विमर्श लिंग के आधार पर स्त्री पर होने वाले शोषण से मुक्ति के लिए अपनी आवाज बुलंद कर रहा है। लेकिन दलित स्त्री केवल लिंग के आधार पर पुरूष सत्ता से शोषित नहीं है।

Self Attested

नव्वे के दशक के बाद हिन्दी में दलित कहानियों ने अपनी दृढ़ उपस्थिति दर्ज की हैं। दलित कहानीकारों ने अपने शोषण, उत्पीड़न और गुलामी से मुक्ति के लिए छटपटाते, कराहते, गर्तेविलखते, निराश दलितों को संघटन और संघर्ष से जोड़ा है। इस कार्य में पुरूष लेखकों के साथसाथ दलित स्त्री लेखिकाएँ भी कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तत्पर हुई हैं। विगत तीसपैंतीस वर्षों से हिंदी साहित्य में स्त्रीविमर्श या स्त्रीवादी आंदोलनों पर मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, राजनैतिक और मानवीय दृष्टि से बहस हो रही है। सदियों से पीड़ित, उपेक्षित शोषित नारी आज अपने अस्तित्व एवं अधिकारों के प्रति

जातीय स्वाभिमान : दलित कहानियों के विशेष संदर्भ में

❐ सुश्री उमा देवी

समकालीन दलित कहानियाँ दलित अस्मिता की लड़ाई का एक ऐसा पक्ष भी सामने लाती है, जहाँ दलित स्त्रियाँ अपने यौन-शोषण और शारीरिक शोषण के विरूद्ध उठ खड़ी हुई है।

साहित्य को जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिविंव माने या समाज का दर्पण दोनों ही स्थितियों में साहित्य समाज का आईना होता ही है। इस परिप्रेक्ष्य में देखे तो अस्सी के वाद का समय भारतीय साहित्य में सामाजिक - राजनैतिक दृष्टि से काफी उथल-पुथल का समय रहा है। तत्कालीन समस्याओं और घटनाओं-परिघटनाओं ने हिंदी कथा साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया। अनेक विमर्शों और विचारधाराओं में समकालीन जीवन सपांदित होने लगा। सवसे ज्यादा प्रभावकारी रहें स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श। इन दोनों विमर्शो को हिंदी कहानियों ने एक नया मुकाम दिया है। दलित कहानियों में डॉ. अम्वेडकरवादी विचारधारा को लेकर कहानीकार दलितों में जातीय स्वाभिमान की भावना जगा रहे हैं। डॉ. अम्वेडकर ने स्वयं कहा है : "मुझे गर्व है कि मैं दलित समाज में पैदा हुआ हूँ"[1]

वावा साहव के इन्हीं विचारों ने सदियों से वंचित, शोपित और पीड़ित समाज को एक नई आशा दी है। आज वे भी अपने दलित होने पर गर्व करने लगे हैं। अपने खोए हुए स्वाभिमान और आत्मसम्मान को पुन: पाने के लिए संघर्परत है। उनमें परिवर्तन की चाह जगी है। समकालीन दलित कहानीकार समाज-व्यवस्था के विरोधी रूपों को अपनी कहानियों में उजागर कर उनसे मुक्ति की प्रेरणा दे रहे हैं - "अंवेडकरवादी कहानीकारों ने दूसरी दुनिया के यथार्थ के विविध स्तर पर होने वाले वदलाव को उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आकांक्षाओं, उनके दुखदर्द, उन पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों और क्रूरताओं और उससे उत्पन्न संघर्पशील चेतना के विविध रूपों को वड़ी ही ईमानदारी से अपनी कहानियों मे अभिव्यक्त किया हैं।"[2]

भारतीय समाज में कर्म जातीय आधार पर वाँटे गए हैं। जहाँ दलित समाज निकृष्ट और घृणित समझे जाने वाले कामों को करने के लिए मजवूर है। उसे सवर्णो की तरह सम्मानजनक व्यवसाय करके जीवन-यापन करने का अधिकार न था। किन्तु आज दलित अपने दलितपन को अपनी कमजोरी वनने देना नहीं चाहता। तव भी समाज के अन्य वर्गो की तरह सम्मान का जीवन जीना चाहता है। वह भूखे मर सकता है किन्तु अपनी अस्मिता और स्वाभिगान से समझोता करना नहीं चाहता। मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'हमारा जवाव'[3] का नायक हिम्मत सिंह मिठाई वेचता है। सवर्ण उसे अछूत और गंदी जात का कहकर मिठाई वेचने से रोकते हैं। अत: उसकी हत्या कर दी जाती है। वह अंतिम साँस तक स्वाभिमान की लड़ाई लड़ता रहा, क्योंकि वह मिठाई वेच रहा था 'जात' नहीं। किन्तु तथाकथित आभिजात्य वर्ग ये समझना ही नहीं चाहता। इसी प्रकार सूरजपाल चौहान की कहानी 'परिवर्तन की वात'[4] में किसना ठाकुर की मरी गाय उठाने से मना कर देता है। वह समय के साथ वदलना चाहता है - **"अव समय वदल रहा है - हम दूसरा अन्य कोई भी काम कर अपना पेट भर लेंगे लेकिन मरा जानवर हम नहीं उठाएंगे।"**[5] दूसरी ओर अपनी श्रेष्ठता वोध से ग्रसित समाज उनकी प्रगति और परिवर्तन की चाह को रौंदने का यथासंभव प्रयल करता रहा है। जयप्रकाश कर्दम की 'सांग'[6] कहानी भी दलित मजदूरों पर हो रहे जुल्म, अत्याचार और उत्पीड़न के विरूद्ध

आधुनिक पूंजीयुग में विज्ञापन की भूमिका निर्विवाद है। विज्ञापन को अधिकाधिक लोगों तक प्रसारित करने एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भी बाजार ने हिंदी का बखूबी इस्तेमाल किया है। प्रिंट मीडिया से लेकर रेडियो टेलीविजन, चौराहों पर लगे होर्डिंग्स तक विज्ञापन बाजार में हिंदी ने अपनी उपयोगिता के आधार स्थान प्राप्त किया है। उत्तरी भारत में विस्तृत सघन हिंदी जनसंख्या सार्वजनिक एवं गैरसार्वजनिक सभी उपक्रमों एवं उनके उत्पादों के लिए एक बड़ा बाजार उपलब्ध कराती है। इसी को लक्ष्य करके सभी राष्ट्रीय एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हिंदी में विज्ञापन करके बाजार पर नियंत्रण बनाये रखने एवं प्रतिस्पर्धा में बने रहने का प्रयास किया है।

हिंदी की बढ़ती भूमिकाओं ने इसकी क्षमता को विस्तारित करने की मांग की। किंतु इसके नाम पर हिंदी में केवल आंग्ल भाषा के शब्दों को ठूँस दिया गया। अतिशय विदेशज शब्दों के आगमन ने हिंदी के मौलिक स्वरूप पर भी असर दिखाना शुरू कर दिया है। मीडिया खासकर दृश्य-श्रव्य माध्यमों में इस प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं है। आधुनिकता एवं आवश्यकता के नाम पर इतने अधिक अंग्रेजी शब्दों का समावेश कर दिया जाता है कि भाषा हिंदी न होकर हिंग्लिश हो जाती है। एक दूसरी प्रवृत्ति के रूप में सिनेमा विधा में यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से बढ़ा है। इन प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाते हुए हिंदी के स्वरूप में परिवर्तन काफी सावधानी से एवं अपरिहार्यता के आधार पर होना चाहिए। जिससे अपने स्वरूप को बरकरार रखते हुए हिंदी अपनी नयी भूमिकाओं के लिए अधिक विकसित एवं सशक्त हो सके।

इस प्रकार हिंदी भाषा की बहुआयामी उपयोगिता को देखते हुए आधुनिक मीडिया ने इसे हाथों-हाथ लिया है। विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों के साथ ही अर्थ विज्ञान जगत में भी हिंदी मीडिया की भूमिका निर्विवाद रूप से सराहनीय है। मीडिया को आम जनमानस से जोड़कर हिंदी इस समय एक बड़े भारतीय भू-भाग में समाज परिवर्तन की वाहक बनी हुई है।

संदर्भ सूची:

1. भारत 2010, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।

संपर्क सूत्र :
शोध छात्र (हिंदी विभाग)
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
(सरदार पटेल छात्रालय, कक्ष सं. 30)
वाराणसी - 221005, मो. 07275335037

तुलनात्मक अंतरण

असमिया कवयित्री नलिनी वाला देवी और महादेवी वर्मा के काव्य में रहस्यवाद

☐ सुश्री उमा देवी

असम की श्रेष्ठ कवयित्री रोमांटिक युगीन असमिया साहित्य में रहस्यवाद, आध्यात्मिकता और प्रतिभा की धारा बहाने वाली 'पदमश्री विभूषिता' नलिनी वाला देवी, नवीनचन्द्र बरदलै की ज्येष्ठा कन्या थी। वे असम की श्रेष्ठ कवयित्री के रूप में जानी जाती हैं। आपके जीवन का अधिक समय शोक में ही बीता। 1916 ई. में पति की अकाल मृत्यु के बाद वहा पाँच सन्तानों के साथ मायके लौट आई। थोड़े दिनों बाद दो संतान भी चल बसे। पुत्र शोक और विधवा यन्त्रणा से उनका हृदय कराह उठा, लेकिन उन्होंने धैर्य

नहीं खोया। भगवान के सामने आत्मसमर्पण कर जगत का समस्त शोक-ताप उन्हीं का दिया हुआ प्रसाद समझकर स्वीकार कर लिया। ऐसे शोकाकुल हृदय में अतिन्द्रीय (रहस्यवादी) भावना का मिलना स्वाभाविक ही है। वस्तुत: व्यक्तिगत दु:ख विच्छेद ही आध्यात्मिक विच्छेद बन जाता है। उसी प्रकार आधुनिक मीरा महादेवी वर्मा भी हिंदी काव्य की एक महान उपलब्धि एवं उच्चतम प्रतिष्ठा का एक उच्चतम छोर हैं। महादेवी वर्मा और नलिनीवाला देवी के व्यक्तिगत और साहित्यिक जीवन में अनेक समानताएँ देखने को मिलती है। महादेवी का भी वैवाहिक जीवन सफल और सुखमय नहीं हो सका और शीघ्र ही विवाह-विच्छेद भी हो गया। फलस्वरूप वह भी आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुई। उनके काव्य का मूल विषय करूणा, विरह और वेदना तथा प्रेम है। उस विरह-वेदना को रहस्यमय अध्यात्म-साधना की अंतरंग अनुभूतियों से सजा-सवाँरकर ग्राह्य बना दिया है। दोनों कवयित्रियों के काव्य में भारतीय अध्यात्मवाद की प्रभा पूर्णत: परिलक्षित होता है।

एक परम सनातन सत्ता के ऊपर अटल विश्वास रहस्यवाद है। इसमें ज्ञान से ज्यादा दैवीय अनुभूति को महत्व दिया जाता है। जगत के सभी वस्तु या शक्ति के मूल में एक परमशक्ति और सभी सत्ता के मूल में एक परम सत्ता का आभास होता है। उस परम सत्ता से एकाकार हो जाने की आकांक्षा से उसे ढूंढते फिरना तथा मन को शुद्ध, परिष्कृत कर उससे अभिन्नता का अनुभव कर तृप्ति करना ही 'रहस्यवाद है। रहस्यवाद के मूल उपादानों में विचित्रता के बीच ऐक्य का संधान, दैवी अनुभूति, प्रतीक, प्रेम, विरह, आत्माविलुप्ति और तृप्ति या आनन्द को प्रमुखता दी गई हैं। रहस्यवाद के ये सारे तत्व दोनों कवयित्रियों के काव्य में पाए जाते हैं। दोनों ने उस परमसत्ता को अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है और उनसे विरह का अनुभव करती हैं।

'संधियार-सुर' (संध्या का स्वर) काव्य संग्रह में नलिनीवाला देवी का आध्यात्मिक स्वर मुखर हो उठा है। विरह के समय में प्रियतम से मिलना ही उनकी एक मात्र इच्छा है। जीवन के आनन्दमय प्रभात में उन्हें ईश्वर की याद नहीं आई। लेकिन आज दु:ख और विषाद में वह अपने प्रियतम को खोज रही है -

"आजि एई आवेलिर विदाई परत
गहीन एन्धारे ढका - सीमाहीन सागर पारत,
तोमालै परिसे मनत
ओ मोर परम प्रिय
तुमि कत, तुमि कत ?"[1]

अर्थात आज शाम को विदाई की वेला में, गहरे अंधकार से ढके असीम समुद्र-तटपर तुम्हारी याद आ रही है। ओ मेरे प्रियतम तुम कहाँ हो ?

मनुष्य की तृष्णा का अंत नहीं है। कवयित्री कहती हैं कि भोग से भी वासना का अंत नहीं होता। अपने कर्म के फलस्वरूप मनुष्य बार-बार इसी संसार चक्र में लौट आता है। कवयित्री भी उन्हीं लोगों में से हैं। यहाँ उनकी विचारधारा भारतीय दर्शन के कर्मफलवाद और पुनर्जन्मवाद से प्रभावित है। 'परम तृष्णा' कविता में वह कहती हैं :

"भोगतेई मानुहर
तृपिति पलोवा हले
वासनाओ नोवारे याकिव।"[2]

Self Attested

असम के भक्ति आंदोलन में शंकरदेव की भूमिका

उमा देवी

शंकरदेव भले ही असम के नव वैष्णव आंदोलन के जनक रहे हैं, पर असम के भीतर ही उनकी चिंताधाराएँ सीमाबद्ध नहीं हैं। उनके 12 वर्षों के भारत भ्रमण ने उनकी विचार धाराओं को प्रभावित किया, व्यापकता प्रदान की। भ्रमण से मन की संकीर्णता दूर हो जाती है। अत: उनके काव्य में राष्ट्रीयता की भावना होना स्वाभाविक है।

हमारे देश में भक्ति का प्रारंभ कब हुआ और इसके बीज कहाँ-कहाँ बिखरे पड़े थे, इस संबंध में आज भी विद्वान विवेचकों और समालोचकों में काफी मतभेद देखा जाता है। कुछ विद्वान इसे पराजित मनोवृत्ति की देन मानते हैं तो कुछ ईसाई धर्म की देन तक कहते हैं। वास्तव में यह भारतीय धर्म और कर्मभूमि की एक ठोस उपज है। इसके साधन लौकिक हैं किन्तु साध्य एक ऐसी लोकोत्तर अनुभूति है जिससे भक्त के हृदय में असीम आनंद और अनुपम शांति की प्राप्ति होती है। भक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्वर उपनिषद' में मिलता है। कालांतर में दक्षिण भारत में छठी सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर दसवीं सदी तक अनेक आलवार (जो विष्णु के भक्त थे) और नयनार (शिव भक्त) संतों ने विशुद्ध प्रेम पर आधारित भक्ति का प्रसार किया। वास्तव में बौद्ध धर्म और जैन धर्म में कालांतर में जो विकृतियाँ आई उन्होंने भक्ति और धर्म के नाम पर समाज को अंधविश्वास, रूढ़ियों कर्मकाण्डादि के गर्त में ढकेल दिया था। अत: इन भक्तों का लक्ष्य समाज को एक निश्चित और परिष्कृत धार्मिक मार्ग दिखाना था। कालांतर में वैष्णव भक्ति के अंतर्गत विष्णु के अवतार राम की भक्ति का प्रचार-प्रसार रामानंद की परंपरा में हुआ। वहीं कृष्णभक्ति का देशव्यापी प्रचार-प्रसार मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य की शिष्य परंपरा में अष्टछाप के कवियों द्वारा हुआ। इस संबंध में कहा गया है : "भक्ति द्राविणी उपजी लाए रामानंद"

दक्षिण में जन्मी भक्ति की लहर जब उत्तर भारत तक फैली उसने एक आंदोलन का रूप लेना शुरू किया। धीरे-धीरे इस लहर से सम्पूर्ण भारत प्रभावित होने लगा। मूलत: भक्ति आंदोलन मध्यकालीन भारतीय परिस्थिति की देन है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों की दयनीय अवस्था में यह आंदोलन उभरकर सामने आया था। राजनैतिक अस्थिरता, अराजकता, कलह, असहिष्णुता, सामाजिक जीवन में अशिक्षा, अंधविश्वास, कुशिक्षा, भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार, आर्थिक जीवन में निम्न वर्गों का शोषण, उत्पीड़न व्याप्त था धर्म के नाम पर पंडा-पुरोहित अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंक रहे थे। मुस्लिम शासकों द्वारा हिन्दू धर्म व जनता पर किए गए अत्याचार, अन्याय, अपमान आदि विशेष परिस्थितियों के परिणामस्वरूप भक्ति आंदोलन को बल मिला था।

सम्पूर्ण भारत में भक्तिकाल की ऐसी विषम परिस्थितियों में विविध अंचलों, प्रदेशों के संतों, महात्माओं-कवियों ने आम जनता को ऐसी परिस्थितियों से उबरने के लिए प्रेरित किया। अपनी अमर

वाणियों के माध्यम से उन्हें ईश्वरोन्मुख किया। लोगों की सामाजिक और धार्मिक स्थिति को सुधारने के लिए विष्णोपासना पद्धति अपनाई थी। यह उपासना पद्धति मूलत: भारतीय धर्म-संस्कृति की निचोड़ कही जा सकती है। इसके उपासकों ने पुराने सिद्धांतों की परिस्थिति अनुकुल नई व्याख्याएँ की हैं। जिनमें तुलसीदास, कबीरदास, नानक, सूरदास आदि प्रमुख भक्त कवि हैं।

ध्यातव्य है कि जब देश के विभिन्न भागों में भक्ति के कारण जागरण आने लगा था, उस समय देश का उत्तर-पूर्वी भाग इससे अछूता सा था। वामाचारियों ने जनता को पथभ्रष्ट कर रखा था। शंकरदेव से पूर्व असम में शैव मत, शाक्त मत और वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार हो चुका था। स्थानीय देवी-देवताओं की पूजा के अतिरिक्त असम का प्राचीन धार्मिक मत शैव मत है। इसमें शिव के भैरव रूप को प्रधानता मिली थी। ऐसा माना जाता है कि द्वितीय शताब्दी में विदेह के राजकुमार नरकासुर ने यहाँ आर्यो का उपनिवेश बसाया था। नरकासुर ने ही शाक्त धर्म का प्रचार करके देवी-पूजन का शुभारंभ किया था। अत: द्वितीय शताब्दी से ही असम में शाक्त मत का प्रभाव माना जाता है। जो कालांतर में बौद्ध वजयानी मत तथा तांत्रिकता से प्रभावित होता हुआ दसवीं से तेरहवीं सदी तक आते-आते एक उग्र रूप ले चुका था। परिणामस्वरूप शैव मत में भी बलिप्रथा, तंत्र-मंत्र आदि का प्रभाव बढ़ने लगा था। ऊपर हमने शंकरदेव पूर्व असम में वैष्णव धर्म की बात कही है। ये वैष्णव धर्म पांचरात्र प्रधान था। इसमें शुद्ध भक्ति के स्थान पर तंत्र-मंत्र और जादू-टोने की प्रधानता थी। दूसरी ओर शैव मत और शाक्त मत के सामने वह टिक नहीं पा रहा था। देवी-पूजाओं में मनसा पूजा, शीतला पूजा आदि का भी चलन था। बौद्धधर्म अपनी विकृत अवस्था में पाँव जमाए बैठा था। इस प्रकार भक्ति आंदोलन के पूर्व कामरूप का समाज विभिन्न धर्मो, आचार-पद्धतियों के कारण विश्रृंखलित होता जा रहा था। अंधविश्वास, बाह्याडंबर, कर्मकाण्डों ने जनता को दिग्भ्रमित कर रखा था। ऐसी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों को देखकर शंकरदेव बहुत चिंतित हुए। उन्होंने एक नए और परिष्कृत भक्ति मार्ग और धर्म की आवश्यकता महसूस की। इसी दौरान वे भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। उन्होंने 12 वर्षो तक भारत देश का भ्रमण किया। इस दौरान वे काशी, मथुरा, वृन्दावन, पुरी, गया आदि तीर्थो पर गए। विभिन्न मतावलंबी संतों के साथ बैठकर ज्ञान का आदान-प्रदान किया। इस समय तक देश के इन क्षेत्रों में विशेषत: उत्तरभारत में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रभाव पड़ चुका था। भक्ति आंदोलन अपने लक्ष्य की ओर तीव्रगामी हो चुका था। इसी सर्वभारतीय वैष्णव मत ने श्रीमंत शंकरदेव को विशेष प्रभावित किया। वे स्वयं कृष्णमय होकर कामरूप लौट आए। सम्पूर्ण उत्तरपूर्वांचल में भक्ति आंदोलन के नारों का प्रचार-प्रसार करने में शंकरदेव का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने असम की विषम सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के बीच लोगों को वैष्णव धर्म का संदेश दिया। उन्होंने वैष्णव धर्म के उन सारे तत्वों को ग्रहण किया। जिनके अनुसार वैष्णव धर्म मूलत: भक्ति प्रधान है। अहिंसा को वैष्णव भक्ति का प्रधान लक्षण माना गया है। इसमें गुरू को भक्ति साधन का प्रधान अंग माना

नाम : उमा देवी

जन्म : 12 जुलाई 1984

शिक्षा : हिन्दी में एम.ए., एम.फिल. , पी-एच.डी. (शोधरत)।

प्रकाशन : समन्वय पूर्वोत्तर के कुछ अंकों में आलेख प्रकाशित।

संपर्क : हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय वि. वि. (नेहू), परमानेन्ट कैम्पस, शिलाँग - 793022 (मेघालय)

मो० : 09863537461

Self Attested

मानवता की नई परिभाषा की खोज

उमा देवी

दलित विमर्श मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला विमर्श है। यह मानवता की पुनः प्रतिष्ठा का विमर्श है। ये ऐसे समाजवाद का समर्थक है, जो भेदभाव और ऊँच-नीच से रहित हो। जहाँ मनुष्य को रंग-रूप या नस्ल, लिंग के आधार पर नहीं, बल्कि गुण और कर्म के आधार पर महत्व प्राप्त हो। सदियों से वर्णवादी व्यवस्था ने जाति के आधार पर कर्म निश्चित किया है। फलस्वरूप समाज के तथाकथित उच्चवर्ण (ब्राह्मण वर्ण) ने समाज के सारे सम्मानजनक कार्य अपनी झोली में डाल लिए। मंदिरों और पाठशालाओं में दलितों और स्त्रियों का प्रवेश निषेध कर दिया गया। इसका पालन न करने वालों के लिए कठोर से कठोर नियम मनुस्मृति में मिल जाते हैं।

दलितों को एक ही अधिकार मिला था, कि वह उच्च वर्णों की सेवा करें। बदले में उन्हें जीवन भर उतरन, जूठन, गरीबी, फटेहाली, अशिक्षा और तिरस्कार मिलते रहे। बिना सिर-पैर के नियमों और तर्कों को आधार बना कर उनका शोषण ही होता रहा है। वास्तव में हमारे देश के कोने-कोने में दलित उत्पीड़न का इतिहास मिल जाता है। आप उत्तर भारत के गाँवों में जाइए या महाराष्ट्र, दक्षिण भारत के गाँवों में। हर जगह आपको मानवता के पल-पल मिटते निशान मिल जायेंगे। कितनी अजीब बात है --- जहाँ पूरे विश्व में, हमारे देश की संस्कृति अद्वितीय मानी जाती रही है और इसी ने सारे विश्व को मानवता का पाठ पढ़ाया है। हमारी संस्कृति सृष्टि के कण-कण में ईश्वर का वास मानती है। हम नदी, पर्वत, पेड़, पत्थर सभी को पूजते हैं। हर जीव की आत्मा में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकारते हैं। लगता है, पत्थरों को पूजते-पूजते हम इंसानों से प्रेम करना ही भूल गये।

'सबका मालिक एक' का नारा तो लगाते रहे, लेकिन सच्चाई यह थी कि समाज का एक वर्ग मालिक के दरबार से दूर फेंक दिया गया था। जिन्हें छूना भी घोर अधर्म था। क्योंकि वे ऐसे काम करने के लिए मजबूर थे जो उच्च वर्णों के लिये घृणा और तिरस्कार के विषय थे। परिस्थितिवश दलित भी भाग्यवादी बनते गये। उन्हें भी लगने लगा कि ये उनके पूर्वजन्म के पापों की सजा है और इसी को भोगने के लिए वे पैदा हुए हैं। मनुष्य का एक वर्ग मनुष्य होकर पशुवत जीने के लिए मजबूर था। जहाँ कर्म की पूजा होती थी, वहाँ स्वार्थवश समाज के एक वर्ग ने जाति की पूजा आरम्भ कर दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि दलित वर्ग सभी प्रकार के सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

प्रकृति का नियम है, कुछ भी

Self Attested

सामाजिक पिछड़ेपन की विभीषिका और समकालीन हिन्दी दलित कहानियाँ

उमा देवी

हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में 90 के दशक से दलित चेतना उभर कर सामने आने लगी है। कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा या नाटक सभी साहित्यिक विधाओं में दलित रचनाकार दलित चेतना को अभिव्यक्त कर रहे हैं। उत्तर-आधुनिक युग की विशेष देन के रूप में दलित विमर्श ने हिन्दी साहित्य जगत् में अपनी अलग पहचान बनाई है। दलित साहित्यकारों ने अपने शोषण, उत्पीड़न और गुलामी से मुक्ति के लिए छटपटाते दलितों को संगठन और संघर्ष से जोड़ा है। जबरन उन पर थोपी गई सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक निर्योग्यताओं के खिलाफ विद्रोह कर उठे हैं। दलितों का यह विद्रोह और संघर्ष समकालीन कहानियों में अधिक मुखर हुआ है। सामाजिक अस्पृश्यता, असमानता, अत्याचार, अन्याय और शोषण से ग्रस्त दलितों की मर्म वेदना की अभिव्यक्ति के लिए दलित साहित्यकारों ने विशेष रूप से कहानी विधा का चयन किया है। वास्तव में दलित कहानियाँ उस मनुष्य के यथार्थ की अभिव्यक्ति है जो मनुष्य होते हुए भी पशु से बदत्तर जीवन जीने के लिए मजबूर है। सवर्णों के धर्म और विचार संहिता ने उसे 'दूसरी दुनिया' में बसा दिया है। स्वयं दलित समाज भी इस झूठ को अपनी नियति मानकर हीनता का शिकार होता चला गया। पहली बार डॉ. अम्बेडकर ने उन्हें अपनी प्रतिष्ठा, सम्मान और अधिकारों के लिए संघर्ष का मार्ग दिखाया। समकालीन दलित कहानियाँ उस संघर्ष का लिखित दस्तावेज हैं। ये कहानियाँ यथार्थवादी हैं, सच को सच कहने का अदम्य साहस रखती हैं—

जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं—''यथार्थ का तकाजा है कि, समाज में जो कुछ अच्छा या सुन्दर है उसी का नहीं बल्कि जो कुछ विद्रूप, वीभत्स और विसंगत है उसका भी यथातथ्य चित्रण पूरी ईमानदारी के साथ किया जाना चाहिए। यथार्थ पर आधारित होने के कारण दलित

जीवन–संघर्ष की कसौटी पर दलित हिन्दी कहानी

*उमा देवी

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मनोहारी देवी कनोई महिला महा0 डिब्रूगढ़ Mob.8822124434

कहानी मूलतः यथार्थ की अभिव्यक्ति है। लेखक जिस सत्य अथवा वास्तविकता को अनुभव करता है, उसमें पाठकों को शामिल करता है। हर युग में यथार्थ के स्वरूप में परिवर्तन के साथ कहानी के ढाँचें और सरोकारों में भी परिवर्तन होते रहे हैं। अस्सी के बाद का समय भारतीय साहित्य में सामाजिक राजनैतिक दृष्टि से काफी उथल–पुथल का समय रहा है। पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण, साम्प्रदायिक शक्तियों का नये सिरे से उभार, आतंकवाद, नक्सलवाद, राजनैतिक भ्रष्टता, उदारीकरण, भूमंडलीकरण, स्त्री और दलित जागरण, बाजार का बढ़ता हस्तक्षेप, सरकारी नीतियों का खोखलापन और इन सब घटनाओं के परिणामवरूप गरीबी, हत्या, गुंडागर्दी, अत्याचार, बलात्कार, अनैतिकता जैसी अनगिनत विडम्बनाओं ने हिन्दी कथा–साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। सदियों से शोषित दलित समाज को समाज की मुख्यधारा में लाने के लिए सामाजिक और साहित्यिक आंदोलना का आरंभ हुआ। कल तक दलित–चेतना साहित्य की एक प्रवृत्ति थी, किन्तु समकालीन समय में इसने विमर्श का रूप ले लिया है। आज दलित विमर्श सबसे प्रभावी और व्यापक रूप में समकालीन हिन्दी साहित्य में अपनी विशेष पहचान बना चुका है। यहाँ दलित विमर्श पर विस्तृत चर्चा मेरे विषय से भटकाव होगा, क्योंकि मेरा विषय समकालीन हिन्दी दलित कहानियों का विश्लेषण और विवेचन संबंधित है, जो समाज व्यवस्था के विरोधी रूपों के संदर्भ में होगा। अतः समाज व्यवस्था के उन विरोधी रूपों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है, जिनके खिलाफ दलित आंदोलन जोर पकड़ रहा है और जिनका प्रतिफलन समकालीन कहानियों में हुआ है और हो रहा है।

सदियों से दलितों पर स्मृतियों, पुराणों तथा धर्मग्रंथों के हवाले से सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक निर्योग्यताएँ थोपी गई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारो वर्णों की उत्पत्ति की बात कही गई है, जिसके अनुसार शूद्रों की उत्पत्ति विराट पुरुष के पैरों से हुई है। शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से हुई है इसी धारणा के कारण शूद्र नीच ठहराये गये। उन्हें अस्पृश्य, अछूत मानकर उनके सामाजिक सम्पर्क को रोका गया। उन्हें उच्च जाति के हिन्दुओं के साथ खानपान और अंतर्जातीय विवाह संबंध रखने से वंचित रखा गया। अस्पृश्य की छाया तक को अपवित्र मानकर, सार्वजनिक स्थानों से दूर रखा गया। उनकी बस्तियाँ सवर्णों के गाँवों से दूर बसाई गई। सार्वजनिक तालाब, कुँओं और स्कूलों के प्रयोग से इन्हें वंचित रखा गया। शिक्षा और धन संग्रह दलितों के लिए धर्म विरूद्ध बनाया गया है। उन्हें समाज के ऐसे काम दिये गए जो सवर्ण कभी भी और किसी भी हाल में नहीं करते। जो धंधे घृणास्पद और गंदगीयुक्त हो उन्हें अपनाकर जीवन जीने के लिए दलितों को विवश होना पड़ा। फलस्वरूप भूखमरी, दरिद्रता, सामाजिक बहिष्कार, अपमान, अन्याय और शोषण ने दलितों के जीवन को बदतर बना दिया। मनुष्य योनी में जन्मा समाज का दलित वर्ग पशु–तुल्य जीवन जीने को मजबूर था। अंततः स्वयं दलित समाज अपने ऊपर होने वाले अमानवीय कृत्यों को अपनी नियति और अपने पूर्वजन्मों के कर्मों का फल मानकर 'दूसरी सुनिया' में जीने लगा। समाज व्यवस्था के इन्हीं विरोधी रूपों ने दलितों के जीवन को और अधिक संघर्षमय बनाया, जिसे समकालीन दलित कहानियाँ उजागर करती हैं। इस संदर्भ में दलित समीक्षक तेज सिंह लिखते हैं–"अंबेडकरवादी कहानीकारों ने दूसरी दुनिया के यथार्थ के विविध स्तर पर होने वाले बदलाव को उनकी सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक अकांक्षाओं उनके दुखदर्द, उन पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों और क्रूरताओं और उससे उत्पन्न संघर्षशील चेतना के विविध रूपों को बड़ी ही ईमानदारी से अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया है।"[1]

दलित जीवन का अभिशाप है–अस्पृश्यता। अस्पृश्यता समाज को लगा कोढ़ है। भारतीय संस्कृति का वह कलंक है जो मिटाये नहीं मिट रहा है। छूत–अछूत के भेदभाव ने दलित समाज को प्रताड़ित ही किया है। दलित कहानियाँ परिवर्तन चाहती हैं। सड़ी–गली मान्यताओं, रूढ़ियों, परम्पराओं को दलित आंदोलन उखाड़ फेंकना चाहता है। दलित चिंतन और दलित आंदोलन के प्रणेता बाबा साहब अंबेडकर ने इसी वर्ण व्यवस्था पर आधारित छूआछूत के खिलाफ अनेक सत्याग्रह किये। कलाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह, महाड़ सत्याग्रह, मुखेड़ गाँव का सत्याग्रह, रामकुण्ड प्रवेश सत्याग्रह आदि सत्याग्रहों के द्वारा उन्होंने पारंपरिक वर्ण व्यवस्था की नींव हिलाकर रख दी। समकालीन दलित कहानियाँ दलित जीवन के इन विभिन्न पक्षों को विभिन्न कोणों से अभिव्यक्त करती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'सलाम' कहानी दिखाती है कि रूढ़ियों से सवर्णों ने रिवाज के नाम पर दलितों का कैसे अपमान किया है? रिवाज भी ऐसा कि नेग–दस्तूर के नाम पर अपनी पुरानी चीजें देकर उनकी गरीबी का मजाक उड़ाया जाता है। आमतौर पर शादी–ब्याह में हम वर–वधू के पास जाकर उन्हें भेंट और आशीर्वाद देते हैं न कि दूसरों के दरवाजे–दरवाजे जाकर भेंट, इकट्ठा किया जाता है। अतः सलाम कहानी सवर्णों की दलितों को नीच बनाये रखने की मानसिकता का पर्दाफाश करती है। सवर्ण रांघड़ों के घर सलाम के लिए जाने की कुप्रथा का हरीश बहिष्कार करता है। वह पढ़ा–लिखा स्वाभिमानी युवक है, जो इसे आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता है। कहानी सवर्णों की उस सोच को भी दिखाती है कि दलित उनकी नजर में अनपढ़, गंवार, असंस्कृत और बुरे होते हैं। उनकी मित्रता हानिकारक होती हैं, लेकिन हरिश के दोस्त कमल उपाध्याय के अनुभव इससे भिन्न और सकारात्मक हैं। मूलतः यह कहानी विद्रोह और नकार प्रधान है,

'RESEARCH JOURNEY' International Multidisciplinary E- Research Journal
Impact Factor - (SJIF) - 6.261, (CIF) - 3.452(2015), (GIF)-0.676 (2013)
Special Issue -2- इक्कीसवीं सदी का हिंदी साहित्य : संवेदना के स्वर
ISSN : 2348-7143
February-2019

Self Attested

समकालीन हिंदी दलित कविता और नारी

उमा देवी
एसिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मनोहरी देवी कनई महिला महाविदयालय, डिब्रूगढ़

==========

स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी साहित्य में दलित चिंतन और स्त्री चिंतन दोनों विमर्श के रूप में सामाजिक और साहित्यिक चिंता के विषय बने हुए हैं। इन दोनों विमर्शों ने हिंदी साहित्य जगत में वैचारिक क्रांति ला दी है। दलित और स्त्री दोनों ही समाज के ऐसे समुदाय हैं जो सदियों से उपेक्षित और तिरस्कृत रहे हैं। साहित्य में उपस्थित स्त्री विमर्श बहुत गहराई से स्त्री-जीवन की पड़ताल करता है। स्त्री सबके करीब है फिर भी उपेक्षित और अपमानित है। इतिहास साक्षी है कि समाज के बदलते मानदण्ड विभिन्न सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवस्थाओं का विकास तथा नवीन आदशा ं की स्थापना नारी स्थिति के उत्थान पतन के लिए उत्तरदायी रहे हैं। दलित आंदोलन के परिणामस्वरूप दलित स्त्रियों में भी अपनी सामाजिक स्थिति के विरुद्ध चे ना का विकास हो ने ा लगा है आरै उनकी अलग संवेदनाओं और मांगों को लेकर दलित स्त्री विमर्श का जन्म हुआ है। यह विमर्श ऐसी स्त्री की पैरवी करता है जो दलितों में भी दलित मानी जाती है। दलित स्त्रियों ने स्त्री और दलित होने की दोहरी सजा पाई है। दोहरे-तिहरे मानदण्डों को झेला है। उनके अनु व आरै घाव अन्य स्त्री-पुरुषा ं से अधिक गहरे हैं। समकालीन हिंदी दलित कविता दलित स्त्रियों की वेदना और पीड़ा को व्यक्त करने वाला सबसे सशक्त और प्रभावी साहित्यिक माध्यम बना है। दलित स्त्री दासता के कारणों की पड़ताल के साथ-साथ समाज के विरोधाभास से उत्पन्न विद्रोह, संघर्ष, मुक्ति की चाह, समता, स्वतंत्रता और भाईचारे की भावना समकालीन हिंदी दलित कविता के केन्द्रीय सरोकार हैं। प्रस्तुत संगोष्ठी पत्र में हिंदी की मुख्य दलित कवयित्रियों की कविताओं में व्यक्त दलित नारी चेतना का विश्ले ण करन ा जा रही हूँ हिंदी में मु यरूप से डॉ. सुशीला टाकभौरे, डॉ. कु सुम मेघवाल, रजनी तिलक, रजनी अनु गी, पू म तु ामड़, कावरे ी, रजतरानी 'मीनू', हेमलता महीश्वर, सु मित्रा मेहरौल, रजनी दिसोदिया, अनिता भारती आदि दलित कवयित्रियाँ अपने अनुभवों को व्यक्त कर रही हैं। ये स्वयं दलित समाज से आती हैं। इनका लेखन सहानुभूति का लेखन नहीं, अनुभूति का लेखन है। दलित उद्धारक महात्मा ज्यो तिबा फू ल ने कहा था कि--'जलने का दर्द राख ही जानती है।' अतः समकालीन दलित स्त्रीवादी कविताएँ अधिक यथार्थ और प्रभावपूर्ण बन पड़ी हैं। इन कवयित्रीयों ने अपनी स्त्रीवादी चेतना और दलित चेतना से हिंदी कविता को समृद्ध किया है। इस संबंध में दलित कवयित्रि, नारी मुक्ति आंदोलन की अग्रणी कार्यकर्ता रजनी तिलक का कथन है

"दलित स्त्री कविता जाति भेद, लिंग भेद, अमीरी-गरीबी, भूख, उपजातिवाद, जाति हिंसा, घरेलू हिंसा, पीड़ा, उत्पीड़न, दमन, भ्रष्टाचार, राजनीतिक बदकारी, कलह-अन्तर्कलह, द्वन्द्व, उपनिवेशवाद, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, धार्मिक पाखंड व ब्राह्मणवाद की श्रेष्ठता तथा पुरुष की सर्वोच्चता को जहाँ चुनौती देती है, वहीं एक सम्यक दृष्टि देकर प्रबुद्ध समाज की रचना में अपना योगदान देती हैं।"१

स्त्री के लिए त्रासदी उसका स्त्री होना है, लेकिन दलित स्त्री के लिए केवल स्त्री होना नहीं, दलित स्त्री होना सबसे बड़ी त्रासदी है। वह लिंगभेद और जातिभेद दोनों को झेलते हुए दुहरे-तिहरे शोषण की शिकार होती है। समकालीन हिंदी दलित कविता में लिंगीय आधार पर होने वाले भेदभाव को व्यापक फलक पर अभिव्यक्ति मिली है। स्त्री को गुलाम बनाने वाली पुरुषवादी साजिश का प्रथम चरण परिवार होता है। जहाँ जन्म के पहले से ही बेटी लिंगीय भेदभाव की शिकार होती है। अबोध, निर्मल, निश्छल नन्ही बेटी को परंपरा, मूल्य के नाम पर बंधन में, पुरुषवर्चस्ववाद की कैद म ें रहने की सीख दी जाती है। क्षण-प्रतिक्षण उसके सपनों के पंखों को काटकर बेबस, लाचार बना दिया जाता है। जीवन में रोशनी के महत्व स े उस े अनभिज्ञ रखा जाता है। फलस्वरूप वह रोशनी में रहते हुए भी स्वयं का े अंधेरे में कै द महसू ा करती है। इसी वेदना को 'नन्ही सी बच्ची' कविता में रजनी अनुरागी इस प्रकार व्यक्त करती हैं--

"पंख खुलते हैं रोशनी के
मैं बंद कमरे से बाहर हूँ
और मैं पाती हूँ खुद को अंधेरे में।"२

Self Attested

नागार्जुन की कविता में जनपक्षधरता

डॉ० उमा देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय

सारांश :

सजग एवं संवेदनशील रचनाकार सदैव अपने समसामयिक परिस्थितियों के प्रति सजग एवं समाज के प्रति प्रतिबद्ध होता है। प्रगतिवादी कवि नागार्जुन ऐसे ही कवि हैं। जिनकी कविता समाज का लिखित इतिहास हैं। जनसरोकारों को अपने में समेटे ये कविताएँ शोषित, पीड़ित एवं निर्धन किसान, मजदूरों की पक्षधर हैं। इनमें सत्ताधारी, पूँजीपति, सामंत जैसे शोषकों के प्रति आक्रोश और विद्रोह फूट पड़ा है। कवि नागार्जुन की कविताएँ भोगे हुए दुख, दर्द, पीड़ा तथा उपेक्षा का लिखित दस्तावेज हैं। अत: उनमें भूख की पीड़ा, गुलामी की तड़प, उपेक्षा का दर्द, नई रोशनी की आशा, बेहतर की आकांक्षा तथा संघर्ष के जुनून की यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है। जात-पांत, आडंबर, ऊँचनीच, भ्रष्टाचार, गरीबी के विरूद्ध उनकी बेबाकी एवं साहस ही नागार्जुन को हिंदी साहित्य में विशिष्ट बनाता है।

बीज शब्द : नागार्जुन, किसान, सर्वहारा, शोशण, विद्रोह।

प्रस्तावना :

हिंदी साहित्य में प्रगतिवादी चेतना के प्रखर कवि नागार्जुन का जन्म सन् 1911 में एक निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। उन्होंने संस्कृत, मैथिली और हिंदी में साहित्य-सृजन किया। संस्कृत में 'चाणक्य' नाम से, मैथिली में 'यात्री' तथा हिंदी में 'नागार्जुन' नाम से लिखते रहें। नागार्जुन यायावरी प्रवृत्ति के थे। इसी प्रवृत्ति ने उनकी सृजनशीलता एवं चिंतन को ऊर्जा प्रदान की। उनके साहित्य में अभिव्यक्त संवेदना तथा विचारों का मूलाधार उनके गहन अध्ययन, यायावरी प्रवृत्ति तथा अनुभव को ही माना जा सकता है। चार वर्ष की आयु में ही माँ का आँचल छिन गया। अनेक अभावों एवं दुखों के बीच बाल्यकाल व्यतीत होने लगा। उनका बचपन गरीब, शोषित किसानों तथा सर्वहारा वर्ग के बच्चों के साथ बीता था। उन्होंने अनेक सड़ी-गली परंपराओं और मान्यताओं के कुप्रभावों को देखा। फलत: उनमें विरोधी प्रवृत्ति का विकास होने लगा। बाल्यकाल में नागार्जुन में विकसित हुई विरोधी प्रवृत्ति एवं जनवादी चेतना ने ही उन्हें परवर्ती काल में मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट किया।

डॉ. शिवकुमार मिश्र के शब्दों में - 'नागार्जुन स्वभाव से विद्रोही हैं, उन्हें आडम्बर और प्रदर्शन से बेहद नफरत है। उनकी लेखनी आडम्बरों, रूढ़ियों और विषमताओं के विरूद्ध जमकर चली है। विद्रोह उनके स्वभाव में मूर्तिमान है। यह विद्रोह उस परिवेश की देन है जिसके बीच उन्होंने जीवन जीया है। अपने अंतर की इस विद्रोह वृत्ति को उन्होंने सदैव रचनात्मक दिशाओं की ओर सक्रिय किया है। हँसमुख इतने कि उनके जीवन संघर्शों से अपरिचित व्यक्ति शायद ही यह जान पाये कि जीवन का इतना विश पीने और पचाने के बाद यह हँसी सौगात के रूप में मिली है।"

बनारस में अध्ययन करते समय उनकी रूचि अखबार पठन की ओर बढ़ी। फलत: विश्व राजनीति तथा राष्ट्रीय आंदोलन आदि पर उनकी कृष्टि तैयार होने लगी। सन् 1936 के लंका प्रवास के पश्चात् वे पूर्णत: प्रगतिवादी विचारों से जुड़ते हैं। इसी दौरान मार्क्सवादी विचारों ने उन्हें प्रभावित किया। यही पर बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन कर बुद्ध के 'समता सिद्धांत' का ज्ञान प्राप्त करते हैं। मार्क्सवादी आंदोलन से वे राहुल सांस्कृत्यायन तथा स्वामी सहजानंद सरस्वती की प्रेरणा से जुड़े। नागार्जुन अपने राजनैतिक गुरू सहजानंद के आह्वान पर सन् 1938 में किसान आंदोलन में शामिल हुए। अर्थात् कवि की चेतना एवं विचारों को सही दिशा और अर्थ लंका प्रवास के पश्चात् ही प्राप्त हुई। वे सही अर्थो में जनसामान्य से जुड़े।

Self attested

ISSN - 2229-3620
APPROVED UGC CARE

SHODH SANCHAR BULLETIN
Vol. 10, Issue 37 January-March 2020
Page Nos. 89-92

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

वैश्वीकरण और इक्कीसवीं सदी की कहानियों में बदलता दलित जीवन-संदर्भ

डॉ० उमा देवी*

शोध सारांश

वैश्वीकरण मूलतः पूँजी का हो रहा है। इसका एक ही उद्देश्य है मुनाफा कमाना। मुनाफे की इस मानसिकता ने विज्ञान, बाजार, तकनीकी, विचार तथा संस्कृति सभी पर हमला बोला है। बाजारवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति ने हमें केवल उपभोक्ता बनाकर रख दिया है। भौतिकता की प्रवृत्ति में वृद्धि से मनुष्य संवेदनहीनता, नैतिक पतन तथा मूल्यहीनता से जूझ रहा है। हिंदी साहित्य में वैश्वीकरण के फलस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्तर पर हो रहे परिवर्तनों को लेकर पर्याप्त साहित्य लेखन हो रहा है। विश्वग्राम परिकल्पना से बदलते भारतीय संस्कृति के मानदण्ड, हाशिए के समाज में जनजागरण इक्कीसवीं सदी में साहित्य के मुख्य सरोकार बने हुए हैं। दलित, तथा स्त्री के लिए वैश्वीकरण सदियों की सांस्कृतिक गुलामी से मुक्ति का स्वप्न लाया है तो दूसरी ओर पूँजीवादी शक्तियों द्वारा आर्थिक गुलामी का षडयंत्र भी। इक्कीसवीं सदी की दलित कहानियों में वैश्वीकरण से बदलते दलित–जीवन संदर्भों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

Keywords : वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, संस्कृति, दलित–जीवन, शिक्षा, जागरण, संघर्ष

प्रस्तावना :

आज का दौर वैश्वीकरण का दौर है। इसकी कोख में जन्में उदारीकरण, बाजारीकरण, नव–उपनिवेशवाद, बाजारवाद जैसे तत्व विशेष अर्थ के ध्योतक हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वैश्वीकरण क्या है? वस्तुतः वैश्वीकरण अर्थ जगत से जुड़ा हुआ प्रसंग है। वैश्वीकरण मूलतः पूँजी का हो रहा है। इसका एक ही उद्देश्य है मुनाफा कमाना। मुनाफे के लिए वह विज्ञान, बाजार, तकनीक, विचार, संस्कृति सभी पर हावी होता जा रहा है। बाजार के द्वारा पूरी दुनिया पर कब्जा करने की विकसित देशों की साजिश सफल होती जा रही है। परिणामस्वरूप पूरा विश्व बाजारवादी संस्कृति की चपेट में आ गया है। इंसान की कीमत उसकी क्रयशक्ति से तय होने लगी है। मानवीय संवेदनाओं पर भौतिक सुविधाएँ हावी हो गई हैं।

वैश्वीकरण से पूरे विश्व में एक नई उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ है। इस संस्कृति में व्यक्ति का स्थान उपभोक्ता ने ले लिया है। उपभोक्तावाद अर्थात बाजार के द्वारा नियंत्रित सत्ता या मानव समाज। आज सामग्री आवश्यकतानुसार क्रय नहीं की जाती। सामग्रियाँ हमारी आवश्यकताओं को तय करने लगी हैं। अधिक मात्रा में भौतिक सामग्रियों का संकलन व्यक्ति के संपन्नता को निश्चित करती हैं। फलतः मनुष्य में भोगवादी वृत्ति तेजी से बढ़ी है। बाजारवादी संस्कृति बाह्य रुप से समतावादी तथा लोकतांत्रिक होने का भ्रम पैदा करती है। वास्तव में इसने बेरोजगारी, भूखमरी के साथ–साथ मूल्यहीनता और संवेदनहीनता को बढ़ावा दिया है। अमीरी–गरीबी की कभी न पाटने वाली खाई बढ़ती जा रही है।

प्रस्तुत शोध पत्र में वैश्वीकरण के तहत दलित–जीवन संदर्भों में आ रहे बदलाव तथा उन बदलावों के लिए उनके संघर्ष का विश्लेषण किया गया है। साथ ही इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों को भी पहचानने की कोशिश की गई है।

हिंदी साहित्य में वैश्वीकरण के साथ आए राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिवर्तनों को लेकर पर्याप्त साहित्य लेखन हो रहा है। विश्व ग्राम परिकल्पना से बदलती भारतीय संस्कृति के मानदण्ड, हाशिए के समाज में जनजागरण इक्कीसवीं सदी में साहित्य के केन्द्रबिन्दु बने हुए हैं। दलित समाज तथा स्त्री के लिए वैश्वीकरण सदियों की सांस्कृतिक गुलामी से मुक्ति का स्वप्न लाया है तो दूसरी ओर पूँजीवादी शक्तियों द्वारा आर्थिक गुलामी का षडयंत्र भी रचा जा रहा है। इक्कीसवीं सदी की दलित कहानियाँ इस सत्य का उद्घाटन करती हैं। बाबा साहब अंबेडकर के प्रयासों से दलितों में आ रही चेतना को वैश्वीकरण ने रफ्तार दी। उन्हें अंतर्राष्ट्रीय मंच दिया। पाश्चात्य संस्कृति के

*असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी) मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़– 786001 (असम)

Self Attested

ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE

SHODH SARITA

SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 25, January-March, 2020
Page Nos. 220-223

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

स्त्री–चेतना का बदलता परिदृश्य : दलित उपन्यासों के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. उमा देवी*

शोध सारांश

बीसवीं शती के अंतिम दशकों में दलित उपन्यासों में दलित स्त्री–जीवन की पीड़ाओं, विसंगतियों, अंतर्विरोधों को उनके संघर्ष, तथा विद्रोह के साथ व्यापक फलक पर अभिव्यक्ति मिली है। ग्रामीण एवं नगरीय दोनों जीवन स्थितियों में स्त्री का संघर्ष, लैंगिक शोषण, उपेक्षा और आक्रोश मूल हैं। उनकी बेबसी तथा लाचारी के आंसू विरोध और प्रतिरोध में बदल गए हैं। ये स्त्रियाँ दीन–हीन होकर नहीं बल्कि सारे अधिकारों के साथ जीना चाहती हैं। ये दलित पुरुषों को अनुभव कराती हैं कि असमानता, शोषण और अन्याय के खिलाफ लड़ा जाने वाला जंग नारी शक्ति के बिना पूरा नहीं हो सकता।

बीज शब्द : दलित स्त्री, शोषण उपेक्षा, समानता, संघर्ष।

प्रस्तावना :

दलित स्त्री समाज का वह वर्ग है जो जातिगत, लिंगगत और वर्गगत असमानताओं से जकड़ा हुआ है। ये समाज की सबसे निम्न श्रेणी की प्राणी हैं। ये दलित समाज और सवर्ण समाज द्वारा दोहरे–तिहरे शोषण की शिकार होती रही हैं। अतः दलित स्त्री दलितों में भी दलित कही जाती है। सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं से घिरी दलित स्त्री का चित्रण दलित हिंदी उपन्यासों में विभिन्न कोणों से हुआ है। आर्थिक अभाव, छुआछूत, भेदभाव, शारीरिक–मानसिक स्तर पर बलात्कार की यातनाओं को झेल रही दलित स्त्रियों में पनप रहे विद्रोह के स्वर भी फूट पड़े हैं। उनमें अपनी अस्मिता और अधिकारों के प्रति सजगता आने लगी है। समकालीन हिंदी दलित उपन्यासों में दलित स्त्री–जीवन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण हुआ है। ऐसे उपन्यासों में 'छप्पर' (जयप्रकाश कर्दम), 'मिट्टी की सौगंध' (प्रेम कपाड़िया), 'मुक्तिपर्व' (मोहनदास नैमिशराय), 'जस–तस भई सबेर' (सत्यप्रकाश), 'मिस रमिया' (कावेरी), आज बाजार बंद है (मोहनदास नैमिशराय), 'तुम्हें बदलना ही होगा' (सुशीला टाकभौरे) आदि प्रमुख हैं।

दलित स्त्री के रूप में 'छप्पर' उपन्यास की कमला का चरित्र–चित्रण बेजोड़ बन पड़ा है। कमला का सामूहिक बलात्कार होता है। बलात्कार की शिकार कमला कुँवारी माँ बनती है। वह तो यह भी नहीं जानती कि उसके बच्चे का बाप कौन है? अन्याय तो सदियों से स्त्रियों पर होते आया है, लेकिन दलित स्त्रियों का जीवन तो अन्याय, शोषण और अत्याचार का पर्याय बन गया है। कमला इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है। वह अपने साथ हुए अन्याय से टूटती नहीं। अन्याय के खिलाफ उठ खड़ी होती है। वह चाहती है कि उसके साथ जो अन्याय और अत्याचार हुआ है, उसका बदला बेटा खिलाड़ी उन हैवानों से ले। कमला जैसी स्त्रियों को देखकर हमारे देश में नारियों के लिए बने महान–महान मिथक और सूक्तियाँ ढकोसले लगने लगते हैं। एक ओर सृष्टि का आधार माना जाता है स्त्रियों को, वह देवी है, माँ है। वह श्रद्धा और सम्मान की पात्र है। लेकिन सच्चाई इससे बिल्कुल अलग है। कमला जैसी युवतियाँ समाज के लिए खिलौना है। जिनको पुरुषों का एक वर्ग अपनी वासना की तृप्ति का साधन मात्र समझता है। 'छप्पर' उपन्यास में कमला के माध्यम से दलित स्त्री की वेदना को लेखक ने अभिव्यक्त किया है। वेदना का यह रूप आँसुओं में नहीं बल्कि प्रतिरोध के रूप में झलकता है। वह नारी शक्ति की पहचान है, जो चंदन को अहसास दिलाती है कि असमानता, शोषण और अन्याय के खिलाफ लड़ा जाने वाला जंग नारी शक्ति के बिना कभी पूरा नहीं हो सकता।

कमला कोमल हृदय और त्यागशील स्त्री है। बिना किसी स्वार्थ के वह चंदन के सामाजिक मुहिम में उसका साथ देती है। उपन्यास के अंत में चंदन के प्राणों की रक्षा करते हुए उसकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह नाटकीय ढंग से कमला की अचानक मृत्यु पाठक को खटकती है। उपन्यासकार कमला के संघर्ष और कोमल भावनाओं के साथ न्याय नहीं कर पाए हैं। डॉ. तेज सिंह कमला के बारे में लिखते हैं– "कमला इस उपन्यास की ऐसी जीवंत और जीवट चरित्र है जो आर्थिक स्वावलंबन के साथ आत्मसम्मान से जीना चाहती है। वह अपने वर्गीय अंतर्विरोध के

*असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़– 786001 (असम)

Self attested

'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा में अभिव्यक्त लैंगिक असमानता: एक विश्लेषण

डॉ. उमा देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी)

मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रूगढ़ 786001 (असम)

सारांश

'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा वर्ण व्यवस्था, छुआछूत की त्रासदी, पितृसत्ता का दमन और उससे उत्पन्न चिंतन-मनन, नकार और विद्रोह की कहानी है। पूर्वाग्रहों को तोड़ते हुए एक निम्न और अयोग्य मानी जाने वाली स्त्री की आत्मप्रतिष्ठा की संघर्ष गाथा है। वे दलित तथा स्त्री होने की दोहरी सजा पाती रहीं। बाल्यकाल से मर्यादा, मान-सम्मान, आदर्श तथा संस्कार के नाम पर स्त्रियों पर कई पाबंदियाँ लगाई जाती हैं। फलतः उनमें आत्मविश्वास की कमी, असुरक्षा की भावना तथा भय घर कर जाती हैं। जिनके दुष्परिणाम जीवन पर्यन्त वह शोषण, अत्याचार और उत्पीड़न के रूप में सहती हैं। लेखिका भी कभी अपने पति द्वारा किए गए अन्यायों का विरोध नहीं कर पायी थीं। स्त्री के शोषण में हमारी मान्यताएँ, परंपराएँ तथा धर्मग्रंथों की अहम भूमिका रहती हैं। पाप-पुण्य, भाग्य, धर्म-अधर्म जैसे शब्दों के शिकंजे में उसे जकड़कर अशिक्षा और अंधविश्वास के गहरे गर्त में धाकेलकर पितृसत्ता उस पर राज करती है। मूलतः इसमें पितृसत्ता और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा नकार की भावना प्रमुख हैं। यह लिंग के अधार पर बनी-बनाई एक पक्षीय समाज व्यवस्था तथा हमारे संस्कार के मानकों पर पुनः विचार करने की आवश्यकता पर जोर देती है।

बीज शब्द: दलित स्त्री, पितृसत्ता, परंपरा, शोषण, उत्पीड़न, आक्रोश, संघर्ष, मुक्ति।

प्रस्तावना

स्त्री और दलित दोनों ही समुदाय सदियों से उपेक्षित, तिरस्कृत तथा अपमानित समुदाय हैं। दलित जहाँ वर्ण के आधार पर तिरस्कार तथा शोषण का शिकार हैं, वहीं स्त्री लिंग के आधार पर। दलित स्त्री की पीड़ा और गहरी है। वह वर्ण तथा लिंग दोनों के आधार पर शोषित और पीड़ित है। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति अंतर्विरोधें से भरी हुई है। भारतीय संस्कृति में उसे शक्ति का रूप माना गया है, परन्तु आम मानसिकता में वह 'अबला' है। एक ओर 'यत्र नार्यस्तु पूँज्यंते रमन्ते तत्र देवता' कहकर उसकी महिमा बढ़ा दी गई। दूसरी ओर 'ताड़न की अधिकारी' कहकर पशुतुल्य बना दिया गया है। समय और परिस्थितियाँ बदलती रही हैं, परन्तु स्त्री के लिए स्थिति तथा पुरुष की मानसिकता में अधिक अंतर नहीं आया है। संवैधानिक समानता और अधिकारों के बावजूद भी वह दोयम दर्जे की प्राणी है। अतः आज स्त्री-चिंतन का लक्ष्य ही स्त्री-मुक्ति से है। यह स्त्री-जीवन के अनछुए, अनजानें, उपेक्षित पीड़ा जगत के उद्घाटन के अवसर प्रदान करता है। इसका उद्देश्य स्त्री की स्थिति पर आँसू बहाने के बजाय उसके कारकों को उखाड़ फेंकना है।

सभी स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ एक जैसी नहीं हैं। अतः उनकी समस्याएँ तथा संघर्ष का रूप भी भिन्न होगा। फलस्वरूप समाज तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में स्त्री-चिंतन के भी अनेक रूप देखें जाते हैं, जैसे दलित स्त्री-चिंतन। उच्चवर्णीय

Self Attested

ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE

SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 26 (II), April-June, 2020
Page Nos. 245-248

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

कृषक जीवन-संघर्ष : समकालीन कविता के संदर्भ में

❐ डॉ० उमा देवी*

शोध सारांश

भारत कृषिप्रधान देश है। अतः यहाँ के समाज और संस्कृति में कृषक तथा कृषक–संस्कृति दोनों का विशेष महत्व है। हमारी सभ्यताओं के विकास में कृषक–संस्कृति की अहम् भूमिका रही है। एक समय था जब कृषि को उत्तम व्यवसाय मानकर इसकी महत्ता प्रतिपादित की गई थी, परन्तु आज का कृषक–जीवन इस गौरव से वंचित है। आज भारत को कृषि प्रधान देश कहना भी कृषकों की स्थिति पर व्यंग्य करने के समान है, क्योंकि दिन–ब–दिन कृषकों तथा कृषि उत्पादों में निरंतर कमी आ रही है। इसके पीछे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक अनेक कारण हैं, जिनके लिए समाज, सरकार तथा पूँजीपति वर्ग सभी जिम्मेदार हैं। कृषि भूमि की अपर्याप्तता, तमाम कृषि लागतों, खाद, कीटनाशक, बीज, सिंचाई तथा परिवहन की कीमतों में वृद्धि तथा महंगाई से कृषक त्रस्त हैं। कृषि आधारित उत्पादों पर चलने वाले उद्योगों के मालिक पूँजीपति बनते जा रहे हैं। दूसरी ओर खून–पसीने से उत्पादन करने वाला किसान सही मूल्य के अभाव में भूखे मर रहे हैं। लाचारी, गरीबी, अशिक्षा, उपेक्षा, भेदभाव आदि से आज भी कृषक जूझ रहे हैं। पहले साम्राज्यवाद तथा वर्णवाद के शिकार थे, आज पूँजीवाद के। युवा कृषक बेहतर भविष्य की तलाश में शहरों की ओर रूख कर रहे हैं। कृषि के प्रति कृषकों में बढ़ती उदासीनता को रोकने के लिए बाजार का सही उपयोग कर, सरकार को कुछ ठोस कदम उठाने होंगे। तभी हम कृषि प्रधान देश तथा कृषि संस्कृति दोनों को सुरक्षित रख सकेंगे। समकालीन हिंदी कविता में इन सारी संवेदनाओं का यथार्थ चित्रण हुआ है। समकालीन कवि कृषकों को अपने हक के लिए संघर्ष की प्रेरणा देते हैं।

Keywords : कृषक, जीवन, निर्धनता, शोषण, समकालीन।

प्रस्तावना :

भारतीय समाज और संस्कृति में कृषकों का विशेष महत्व रहा है। कृषक भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि है। कृषक संस्कृति ही भारत की प्राचीनतम मानव–संस्कृति है। सिन्धु सभ्यता से लेकर वर्तमान समय तक भारतीय सभ्यता के विकास में कृषक–संस्कृति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गांधीजी ने भारत को गाँवों का देश कहा है। आज भी देश की लगभग साठ–सत्तर प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। देश के कस्बों, नगरों, महानगरों में रहने वाली जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग गाँवों से ही विस्थापित हुआ है। भारतीय समाज तथा संस्कृति में कृषिकर्म को विशेष महत्व प्राप्त है। कवि 'घाघ' की उक्ति द्वारा इसे समझ सकते हैं –

उत्तम खेती, मध्यम बान।
निकृष्ट चाकरी, भीख निदान॥'

अर्थात् खेती उत्तम है, व्यापार मध्यम, चाकरी निकृष्ट तथा भीख निदान मात्र। आज 'घाघ' की यह उक्ति प्रासंगिक नहीं रही, क्योंकि आज कृषिकर्म निकृष्ट माना जाने लगा है और चाकरी उत्कृष्ट बन गई है। इसके पीछे बदलती मानसिकता के कारणों की भी पड़ताल इस शोध पत्र में करेंगे। कृषक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर ढूढने पर हमें कृषि पर आधारित चार वर्ग दिखाई देते हैं –

1. भूमिपति या जागीरदार अर्थात् धनी किसान या जमींदार
2. मंझौले किसान
3. छोटी जोत के किसान
4. खेतिहर–मजदूर और कृषि दास

प्रथम प्रकार का किसान वह है जिसके पास कई एकड़ जमीन हैं। वह स्वयं किसानी नहीं करता। वह दूसरे छोटे किसानों या कृषि मजदूरों द्वारा खेती का काम करवाता है। ऐसे किसानों के पास जीवन के ऐशों–आराम की सारी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। उनके बच्चे शहर के नामी स्कूलों में पढ़ते हैं। यही जमींदार भूमिहीन तथा निर्धन किसानों के नेता बनकर उन पर अत्याचार करते हैं। सही अर्थों में ये जमींदार कभी कृषक–संस्कृति के अंग नहीं रहे और न ही ये भारतीय कृषकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे रूप में देखे तो ऐसे तथाकथित कृषक शोषक संस्कृति के

*असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी) मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़– (असम)

Self Attested

ISSN - 2229-3620
APPROVED UGC CARE

SHODH SANCHAR BULLETIN
Vol. 10, Issue 38 (II) April-June 2020
Page Nos. 336-339

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

जाति के प्रश्न से जूझता समाज

डॉ० उमा देवी*

शोध सारांश

जाति भारतीय समाज में लगे 'कोढ़' की तरह है। जिसने समूचे समाज और संस्कृति को रोगग्रस्त किया है। वैचारिक आधार पर लूला–लँगड़ा बना दिया है। यही कारण है कि सदियों से भारतीय समाज उच्च और निम्न दो वर्गों मे बंटकर रह गया है। उच्च वर्ण उच्च हैं, इसलिए श्रेष्ठ हैं। सत्ता, संस्कृति, धर्म, शिक्षा, रोजगार के स्वच्छ और सम्मानजनक कार्य तथा खेत–खलिहान, यहाँ तक कि दलितों के पसीने पर भी उनका हक है। दलित निम्न जाति के हैं, अतः सभी दृष्टियों से निम्न हैं। उच्चवर्णों की दृष्टि में ये अछूत, अयोग्य, बुद्धिहीन हैं। जाति प्रथा ने दलितों को सारे अधिकारों से वंचित कर हाशिये का जीवन जीने को विवश किया। घोर निर्धनता, अशिक्षा, बेरोजगारी, भूखमरी तथा अनिश्चितताओं का अंधकार युक्त भविष्य 'जाति' व्यवस्था की ही देन है। उच्च वर्णों द्वारा दलित कई हजार वर्षों से शोषित, पीड़ित, उपेक्षित तथा अपमानित होता रहा। इक्कीसवीं सदी के दौर में भी दलितों की स्थिति में कुछ खास बदलाव नहीं देखा जाता। अंतर इतना है कि आज वे केवल रोटी के भूखे नहीं है। वे आत्मसम्मान, एवं अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं। जाति के प्रश्नों, उसके दुष्परिणामों, तथा उसके जड़ से उन्मूलन की चेष्टा को दलित कविता में विशेष अभिव्यक्ति मिली है। प्रत्येक दलित कवि एवं कवयित्रि ने जातिगत अपमान, उपेक्षा तथा अन्याय का दंश झेला है। अतः वे सारी समस्याओं की जड़ जाति प्रथा को मानकर उसका तीव्र विरोध कर रहे हैं। कविता इस संवेदना को भी व्यक्त करती है कि समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व जैसी मानवीय भावनाओं की बहाली के लिए जाति प्रथा का खात्मा आवश्यक है। जहाँ मनुष्य की पहचान मनुष्य के रूप में हो, जाति के रूप में नहीं।

Keywords : जाति प्रथा, परंपरा, आक्रोश, संघर्ष, मानवता।

प्रस्तावना :

भारतीय समाज में जाति प्रथा कलंक के समान है। इसने सामाजिक एकता, समता, भ्रातृत्व तथा बंधुत्व जैसी भावनाओं को दरकिनार कर, ऊँचनीच, भेदभाव जैसी अमानवीय परंपराओं को स्थापित किया है। जाति प्रथा को दृढ़ आधार प्रदान करने में धार्मिक ग्रंथों एवं मान्यताओं की अहम भूमिका रही हैं। इसी अमानवीय प्रथा ने समाज के एक वर्ग को श्रेष्ठ, उच्च करार देकर उसे सत्ता, समाज सभी का स्वामी बनाया। दूसरे बड़े वर्ग को तुच्छ, निम्न, अछूत मानकर दासत्व के भारतले दमन किया। जाति प्रथा दीमक की तरह लगकर समाज को खोखला करता रहा है। समाज का एक हिस्सा पशुतुल्य जीवन जीने को विवश रहा। जाति के आधार पर शिक्षा, स्वास्थ्य, रोटी, कपड़ा सभी अधिकारों से वंचित रखा गया। आज भी वैश्वीकरण के इस दौर में यह समाज असमानता, शोषण, उपेक्षा और अपमान का शिकार है। आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक शोषण और उपेक्षा का दंश आज भी झेल रहे हैं। समाज का यही वर्ग 'दलित' कहलाता है। आज 'दलित' शब्द या दलित अवधारणा परिचय का मोहताज नहीं रहा। यह शब्द एक समाज, एक आंदोलन, एक जागरण तथा एक साहित्यिक धारा का ध्योतक है।

दलित चेतना को सुदृढ़ आधार तथा विस्तार दलित साहित्य से प्राप्त हो रहा है। वर्तमान में दलित साहित्य ने साहित्य की सभी विधाओं में अपनी मुकम्मल जगह बना ली है। परंपरागत ढाँचे से पृथक भाषा–शैली, विषयवस्तु, सौन्दर्यशास्त्र तथा मानवीय लक्ष्य इसकी विशेष पहचान मानी जा सकती है। हिन्दी साहित्य में दलित कविता जन आंदोलन की कविताएँ हैं। यह सदियों से कायम एक पक्षीय समाज व्यवस्था के विरूद्ध उत्पन्न चेतना की कविता है। इसमें परंपरागत सोच, मानसिकता, वर्णव्यवस्था, जात–पांत, छुआछूत के प्रति नकार, विद्रोह तथा संघर्ष प्रमुख हैं। पीड़ित, शोषित, दमित समुदाय में आत्मसम्मान तथा अधिकारों के प्रति सजगता लाना प्रथम उद्देश्य। कंवल भारती लिखते हैं – "यह वह कविता है जिसे शोषित, पीड़ित दलित अपने दर्द को अभिव्यक्त करने के लिए लिखता है। यह वह कविता है

*असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी) मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़– 786001 (असम)

Self Attested

दलित-चिंतन में काम्य समाज की रूपरेखा: एक नई दृष्टि

डॉ० उमा देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिबरुगढ़- 786001 (असम)

सारांश

दलितों को एक सुरक्षित व साम्यवादी समाज के निर्माण की दृष्टि बाबा साहब अंबेडकर ने दी है। उन्हीं के विचारों को पिरोकर दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य को अपनी मुक्ति-संघर्ष में अस्त्र बनाया है। दलित साहित्य ने ही दलित समाज में अपनी स्थिति व भविष्य के प्रति जागरूकता का प्रसार किया है। आज का दलित समाज छुआछूत, भेदभाव तथा जड़ परंपरावादी विचारों पर आधारित समाज का बहिष्कार कर एक नए समाज की परिकल्पना कर रहा है। ऐसा समाज जो समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व जैसे मानवमूल्यों पर आधारित हो। जहाँ न कोई शोषक हो और न कोई शोषित। कोई लिंग, जाति, नस्ल के आधार पर भेदभाव तथा तिरस्कार का शिकार न हो। सभी को शिक्षा व प्रगति के समान अवसर उपलब्ध हों। अंधविश्वासों से मुक्त समाज में मनुष्य स्वयं भाग्य निर्माता बने। दलितों में हीन, घृणित व अछूत बनाये रखने वाले धर्म ग्रंथों तथा मान्यताओं के खिलाफ विद्रोह है। वे ऐसा समाज गढ़ना चाहते हैं, जहाँ उन्हें भी सम्मानजनक जीवन, रोजगार, श्रम का उचित मूल्य, सत्ता, साधन व सम्पत्ति पर समान अधिकार मिलें। इसके लिए दलितों को सामाजिक तथा आर्थिक दोनों स्तरों पर संघर्ष करना होगा।

बीज शब्द: दलित-चिंतन, परंपरा, शोषण, भेदभाव, समाज, साम्यवाद, स्वतंत्रता, मानवमूल्य।

प्रस्तावना

सदियों से सामाजिक बदलाव लाने के लिए साहित्य हथियार के रूप में प्रयोग होता रहा है। वह समाज में व्याप्त विसंगतियों, रूढ़ियों, अभावों, विषमताओं तथा विकृतियों के प्रति जनमानस को जागरूक करता है। मध्यकाल में कबीर आदि ने सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए साहित्य सृजन किया। आधुनिक काल में अंग्रेजों की गुलामी से आजादी के लिए गौरवमय इतिहास को दोहराया गया। कहने का तात्पर्य है कि साहित्य ही वह माध्यम है जो मनुष्य के चित्त का संस्कार कर सकता है। उसमें सामाजिक क्रांति लाने की शक्ति होती है। बाबा साहब अम्बेडकर ने भी महसूस किया कि दलितों में जागृति लाने के लिए साहित्य ही अहम भूमिका निभा सकती है। उन्होंने शोषित दलितों को अपने सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, स्थितियों, समस्याओं तथा कारणों पर चिंतन-मनन करने और समाज की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप दलित साहित्य का उदय हो चला। दलित साहित्यिक आंदोलन दलित समाज की समस्याओं और सरोकारों को समेटे हुए है।

आज का दलित चिंतन समरसता का पक्षधर है। दलित वर्ग समाज का सबसे महत्वपूर्ण अंग रहा है। फिर भी सदियों से उसका अपमान और तिरस्कार ही हुआ है। इस सामाजिक विषमता की नींव रखी 'मनुस्मृति' के रचनाकार मनु ने। मनु से पूर्व समाज में दलितों की स्थिति इतनी दयनीय नहीं थी- "मनु द्वारा बनाया गया भारतीय समाज का यह ढाँचा दलित वर्ग के लिए एक अभिशाप सा बनकर रह गया। जिसे इस वर्ग को आज भी भुगतना पड़ रहा है। आज भले ही हमारा देश इक्कीसवीं शताब्दी के दौर से गुजर रहा हो किन्तु मानसिकता के धरातल पर आज भी काफी पिछड़ा हुआ नजर आता है।"[1]

VOLUME - IX, ISSUE - III – JULY – SEPTEMBER - 2020
AJANTA - ISSN 2277 - 5730 - IMPACT FACTOR - 6.399 (www.sjifactor.com)

Self attested

३. कोरोनाकाल और मजदूर पलायन की त्रासदी

डॉ. उमा देवी
असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी) मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़ (असम) ।

सारांश

महामारियों ने विश्व–इतिहास को बदलकर रख दिया है। विभिन्न महामारियों का विस्तार उपनिवेशवाद के विस्तार के साथ हुआ है। इनके संवाहकों में पर्यटक, देश–विदेश में अधिक धन कमाने की लालसा में घुमने वाले व्यापारी, सैनिक तथा अफसर जैसे आर्थिक रूप से सक्षम और सभ्य माने जाने वाले लोग रहे हैं। गरीब, मजदूर और साधनहीन लोग केवल महामारियों के दुष्प्रभावों के शिकार होते हैं। कोरोना वायरस का सर्वाधिक प्रभाव नगरों–महानगरों में रहने वाले मजदूर, दिहाड़ी मजदूर, असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों पर पड़ा है। नगरों में भी शोषण, उपेक्षा के शिकार ये मलिन, स्लम बस्तियों में आर्थिक बदहाली तथा असुरक्षा के बीच जीवनयापन को विवश हैं। कोरोना वायरस के संक्रमण को रोकने के लिए किए गए लॉकडाउन ने इनकी स्थिति और बदतर कर दी है । बेरोजगारी, भूखमरी, स्वास्थ्य सुविधाओं का अभाव तथा सरकार की उदासीनता से ये बेचौन हो उठे हैं। नगरों–महानगरों में ठहरने की वजह ही उनसे छीन ली गई। बढ़ती असुरक्षा की भावना और मृत्यु के प्रकोप से बचने के लिए मजदूरों का पलायन पुनः गाँवों की ओर होने लगा। जीवन–मरण के संघर्ष में मजदूरों के पलायन की यह पहली त्रासदी होगी, जो इतनी बड़ी संख्या में हुई है। यह मर्जी से नहीं बल्कि अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और संवेदनात्मक दबावों के चलते जन्मी है। देश का गरीब, मजदूर और साधनहीन वर्ग पुनः अनिश्चित भविष्य की ओर विस्थापित हुआ है। समाज के मुख्य समुदाय की यह मार्मिक स्थिति अनेक नैतिक प्रश्नों को जन्म देती हैं।

बीज शब्द : महामारी, कोरोनाकाल, मजदूर, बेरोजगारी, भूखमरी, पलायन, सामाजिकता, नैतिकता, संवेदना।

प्रस्तावना

आज विश्व वैश्विक महामारी के दौर से गुजर रहा है। यह दौर भय, आतंक, असुरक्षा तथा जीवन–मरण के संघर्ष का है। कोरोना पहली महामारी नहीं है जिससे मनुष्य का सामना हुआ हो। ऐसी कई महामारियों की त्रासदी उसने झेली है।

आज के परिप्रेक्ष्य में इस शोध–पत्र के मुख्य विषय पर पहुँचने से पहले कुछ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। पहला प्रश्न है, महामारी क्या है? दूसरा, इसके विस्तार के लिए कौन जिम्मेदार है और इसका सर्वाधिक भुग्तभोगी कौन होता है? सामान्यतः महामारी वह बीमारी है जो एक ही समय में दुनिया के अलग–अलग देशों में, लोगों में व्यापक रूप से फैलती है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि महामारियों ने उसे बदलकर रख दिया है। इनके प्रकोप से कई सल्तनतें बनीं और कई मिट गईं। बीमारियों के महामारी बनने का क्रम तब से आरंभ होता है, जब से विश्व के इतिहास में उपनिवेशवाद का प्रारंभ होता है। उपनिवेशवादी शक्तियों के साथ महामारियाँ भी

Self attested

योग और स्वास्थ्य : कल आज और कल

उमा देवी
मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़– 786001 (असम)
msuma.chetri@gmail.com

सारांश

योग प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। वेद, पुराण, गीता सभी में इसकी महिमा का गान हुआ है। महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र योगदर्शन का अद्वितीय ग्रंथ है। योग मन के विकारों को दूर कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराता है। आत्मा को परमात्मा से मिलाने की क्रिया ही योग है। योगासन एवं ध्यान के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ करता है। चिंता, तनाव, ईर्ष्या, असंतोष तथा अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं में यह औषधि की तरह कार्य करता है। योग को अपनाकर अपनी भावनाओं, विचारों और संवेदनाओं पर नियंत्रण कर व्यक्ति एक सुखी जीवन जीने में सफल हो सकता है। आज कोरोना महामारी के समय में व्यक्ति में संक्रमण का भय, अभाव, मानसिक अशांति, तनाव, स्वस्थ रहने की चुनौती जैसी अनेक समस्याएँ मुँह बाएँ खड़ी हैं। तालाबंदी के दौर में व्यक्ति नियमित विहार, शारीरिक कसरत, व्यायामशाला या अन्य स्वास्थ्य क्रिया कलापों से वंचित हो गया है। ऐसे में सीमित साधनों एवं सीमित परिसर में स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने का एक मात्र सुगम उपाय योग है। योग के माध्यम से व्यक्ति निरोगी, खुशहाल, परोपकारी, नवीन उत्साह से भरा, अहं रहित, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन जीने में सफल हो सकता है। अतः कोरोनाकाल में योग के प्रति बढ़ती लोगों की जागरूकता तथा इसकी लोकप्रियता निश्चय ही आने वाली कई सदियों तक मानव–जीवन को खुशहाल बनायेगी।

बीज शब्द : *योग, आसन, स्वास्थ्य, रोग, प्रतिरोधक।*

प्रस्तावना

स्वास्थ्य मनुष्य की सबसे अमूल्य निधि है। निरोगी काया पहला सुख माना जाता है। सामान्यतः निरोग व प्रसन्नचित होना ही स्वास्थ्य है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए संसार स्वर्ग समान होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वास्थ्य वह शारीरिक, भावात्मक, संवेगात्मक तथा आध्यात्मिक योग्यता है जो हमारे शरीर को लगातार बदलते हालातों के अनुसार ढालने के योग्य बनाती है तथा जिसका उपयोग शरीर को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए किया जाता है। W.H.O. के अनुसार :– "स्वास्थ्य केवल रोग अथवा असमर्थता या अपंगता की अनुपस्थिति ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक सम्पन्नता की स्थिति है।"[1] (Health is a state of complete physical, mental and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity.)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार स्वास्थ्य के कई पक्ष हैं जैसे शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भावात्मक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य। ये सभी पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। मनुष्य को सम्पूर्ण स्वास्थ्य की उपलब्धि योग, व्यायाम, संतुलित आहार, विश्राम आदि के द्वारा प्राप्त होती है। प्रस्तुत शोधपत्र में इन्हीं पर चर्चा करेंगे। सर्वप्रथम योग क्या है? योगाभ्यास की आवश्यकता तथा इससे जीवन में आने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं। महर्षि पतंजलि योग सूत्र में लिखते हैं– "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[2] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। जब चित्त से सारे विकार दूर हो जाते हैं तब आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। पतंजलि का योग दर्शन शरीर, इन्द्रियों तथा मन को पूर्ण अनुशासित करके चित्त की वृत्तियों का निरोध करता है। यह अपने आप में पूर्ण, सार्वभौम एवं वैज्ञानिक है। इसका किसी सम्प्रदाय या धर्म विशेष से कोई संबंध नहीं है। योग केवल व्यायाम न होकर जीवन जीने की कला है। इसमें देशकाल, लिंग, जाति, आयु किसी का भी भेद नहीं है।

योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना या संयोग होता है। आत्मा को परमात्मा से मिलाने की क्रिया ही योग कहलाती है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है। योग हमारे स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म मन को भी स्वस्थ बनाता है। योग के द्वारा ही शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। अंग्रेजी में एक कहावत है– "Prevention is better than cure." अर्थात् 'रोग निरोध रोग निवृत्ति से अच्छा है।' कोई रोगी औषधियों द्वारा रोगमुक्त क्यों न हो जाए, उसमें पहले वाली चुस्ती, फूर्ति तथा क्षमता नहीं होती। अतः हमें रोगों को हमसे दूर रखने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए योगाभ्यास आवश्यक है। योगासन संसार के सर्वोत्तम व्यायाम हैं। इनके अभ्यास से व्यक्ति रोगमुक्त तो रहता ही है साथ में पुराने रोगों को भी बढ़ने से रोका जा सकता है। कभी–कभी तो इनके निरंतर अभ्यास से अनेक जटिल एवं लाईलाज रोगों से मुक्ति पाई जा सकती है। उसे समाज के हर वर्ग का व्यक्ति कर सकता है – "योग का अर्थ है अपने जीवन को भटकाव से बचाना। योग का अर्थ

Self Attested

उत्तर कोविड काल में जीवन

डॉ. उमा देवी

मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़ (असम)
msuma.chetri@gmail.com

कोविड-19 या कोरोना पहली महामारी नहीं जिससे विश्व प्रभावित हुआ हो। विश्व के इतिहास में ऐसी कई महामारियाँ दर्ज हैं। महामारी अपने साथ सदैव कई सबक और परिवर्तन लेकर आती है। ये परिवर्तन अतीत के मोह और भविष्य की कल्पनाओं के बीच स्वयं को गढ़ती-बुनती है। इसने हमारी सोच और जीवन-शैली दोनों को बदलकर रख दिया है। हमें जीवन के अनेक कटु यथार्थ से अवगत कराया है। जीवन-मरण के इस संघर्ष में जीवन का महत्व पुनः स्थापित हुआ है।

भारत में कोविड-19 का पहला मरीज 30 (तीस) जनवरी 2020 में केरल में पाया गया। मरीज चीन के वुहान से आया था। इसकी गंभीरता को देखते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदीजी ने 24 मार्च को देश में सम्पूर्ण लॉकडाउन की घोषणा की, तब तक स्थिति बहुत गंभीर हो चुकी थी। आज देश लॉकडाउन के तीन-चार दौर से गुजर चुका है। देश में मरीजों की संख्या तीन लाख, अस्सी हजार का आंकड़ा पार कर चुकी है। दिल्ली और मुंबई की स्थिति बहुत गंभीर है। कोरोना से लड़ने की नई रणनीतियाँ बन रही हैं। विश्व के सारे वैज्ञानिक इसके वैक्सिन को तैयार करने में जुटे हैं। जब तक वैक्सिन नहीं बनता। इसके संक्रमण को रोकना एक चुनौती है। इसके लिए हमारे रहन-सहन और दिनचर्या में परिवर्तन लाना आवश्यक है। कहने का आशय है कि अब हम पूर्व कोरोनाकाल के भारतीय नहीं रहें। इसने हमें बदलकर रख दिया है। हम व्यक्तिगत स्तर पर इससे बचने के लिए सजग और सतर्क हो गए हैं। यह वायरस कब तक हमारे साथ रहेगा कह पाना मुश्किल है। अतः हमें इसके साथ सुरक्षा उपाय करके जीना सीखना होगा। अब प्रत्येक कार्य नई सोच और नए तरीकों से करने को बाध्य होंगे तो हमारी नई आदतें जन्म लेंगी। यही आदतें आने वाले समय में हमारी दुनिया बदलेंगी।[1]

भाग-दौड़ की जिंदगी में लॉकडाउन ने मनुष्य को रुककर, चलने का मंत्र दिया है। हासिल करने के इस दौड़ में वह अपने सारे रिश्तें-नाते भूल चुका था। शानों-शौकत की सारी चीजें एकत्रित कर ली, पर उनका सुख भोगने का भी समय कहाँ? एक समय था जब हमारे घर बहुत छोटे हुआ करते थे और दिल बड़े। आज घर बड़े हैं और मन संकरे हो गए हैं। विडंबना है कि आज व्यक्ति जरूरत को आगे नहीं रखता, सामाजिक प्रतिष्ठा और दिखावें को अधिक महत्व देता है। कोरोना वायरस ने मनुष्य को दोबारा परिवार से जोड़ा है। वह घर लौट आया है। माता-पिता के सुख-दुःख का सहभागी बनने लगा है। बच्चों के साथ समय व्यतीत कर रहा है। घर फिर घर बन रहे हैं। उनमें भावनाएँ, संवेदनाएँ, आदर, सम्मान और खुशियों के पुष्प खिलने लगे हैं। घर और परिवार का महत्व हमारी संस्कृति में सदैव से रहा है, लेकिन वह दम तोड़ रहा था। एक वायरस ने उसमें पुनः जीवन का संचार कर दिया। रिश्तों में मिठास बढ़ रही है। जब घरों के दरवाजें बंद हुए तो दिलों के दरवाजे खुल गए हैं।

"कोरोना काल ने सच पूछो तो अंधाधुंध भागती दुनिया को एकाएक रोककर आराम से यह सेचने का मौका दिया है कि भविष्य में इंसान व इंसानियत के लिए क्या जरूरी है और क्या जरूरी नहीं हैं। आज एक वायरस ने सोचने पर मजबूर कर दिया है कि पैसा कमाने की कभी खत्म न होने वाली दौड़ और विनाश की तर्ज पर अंधाधुंध विकास की अंधी दौड़ होना दुनिया के हित में ठीक नहीं है। आपदा में लोगों में इंसानियत बढ़ी है।"[1]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में आपसी सामंजस्य बनाए रखता है। बिन-समाज मनुष्य जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विश्व की सारी संस्कृतियाँ, धर्म, सम्प्रदाय आपसी प्रेम, भाईचारा और सहयोग का पाठ

Self Attested

ISSN - 2348-2397
APPROVED UGC CARE
LIS

SHODH SARITA

SHODH SARITA
Vol. 7, Issue 28, October-December, 2020
Page Nos. 120-123

AN INTERNATIONAL BILINGUAL PEER REVIEWED REFEREED RESEARCH JOURNAL

महिला उपन्यासकार और स्त्री चिंतन

❐ डॉ0 उमा देवी*

शोध सारांश

समकालीन स्त्री उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री के बदलते जीवन संदर्भ, बदलती मानसिकता तथा संघर्ष को विशेष स्थान दिया। यह अस्तित्व, अस्मिता और समता के लिए संघर्षरत स्त्री की कथा है। कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल जैसी अनेक लेखिकाओं ने स्त्री चिंतन और स्त्री लेखन को सार्थकता दी। इनके उपन्यासों में चित्रित स्त्री पूर्वाग्रहों से मुक्त, स्वतंत्र, शिक्षित, आत्मनिर्भर, स्वाभिमानी, सबला तथा निर्णय क्षमता से युक्त स्त्री है। वह अपने कार्यों और विचारों से बदलते मूल्यों को अभिव्यक्त करती है। विवाह, मातृत्व जैसे मूल्यों पर सवाल उठा रही है। जहाँ एक ओर वह पुरुषसत्ता का विरोध करती है तो दूसरी ओर उन परंपराओं को स्वीकारती भी है जो मानवता के पोषक हैं। हिन्दी उपन्यास इनके लेखन से एक नई ऊर्जा और दिशा ग्रहण कर रहा है। प्रत्येक लेखिका के जीवनानुभव अलग–अलग हैं। उपन्यासों के विषय तथा अभिव्यक्ति में भी भिन्नता पायी जाती है। फिर भी चेतना एवं उद्देश्य की दृष्टी से उनमें साम्य है। सभी लेखिकायें स्त्री–मुक्ती की प्रबल पक्षधर हैं। स्त्री उपन्यासकारों ने पारंपरिक दर्शन एवं ज्ञान के अमानवीय पक्षों का बहिष्कार किया है। स्त्री को अबला, निरीह तथा शोषित रूप में प्रस्तुत करने वाली परंपरा उनकी दृष्टि में त्याज्य है। अतः समकालीन स्त्री अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए सारे संबंधों को तिलांजलि देने तत्पर दिखती है। परिणामतः व्यक्ति–व्यक्ति संबंध, व्यक्ति–समाज संबंध, स्त्री–पुरुष संबंध नये अर्थ ग्रहण कर रहे हैं। वहीं भूमंडलीकरण के फलस्वरूप उत्पन्न बाजारवादी तथा उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री–शोषण के कई नए रूप भी उभरकर आ रहे हैं।

Keywords : स्त्री–लेखन, पुरुषसत्ता, स्वाभिमान, शोषण, संघर्ष, मुक्ति।

प्रस्तावना :

साहित्य में उपस्थित स्त्री चिंतन बहुत गहराई से स्त्री–जीवन के विभिन्न पक्षों की पड़ताल करता है। वर्तमान साहित्यिक परिदृश्य में स्त्री चिंतन ने अपनी मुकम्मल स्थिति हासिल कर ली है। साहित्य और समाज में यह इक्कीसवीं सदी का सर्वाधिक चर्चित तथा प्रभावशाली चिंतन बनकर उभरा है। यह एक आंदोलन का विषय मात्र नहीं है बल्कि समाज की आधी आबादी के साथ सदियों से हो रहे लैंगिक असमानता, भेदभाव तथा शोषण का तार्किक विश्लेषण एवं पुरुषसत्ता का विरोध है। इसके केन्द्र में न्याय, मानवता, समता, अधिकार तथा स्त्री–अस्मिता के पहचान की कोशिश है। यह पारंपरिक ज्ञान एवं दर्शन को चुनौती देता है।

वस्तुतः स्त्री का प्रतिरोध या चेतना की जागृति एक ही घटना नहीं है। इसमें सदियों से चली आ रही संघर्ष की गाथा प्रस्तुत है। बीसवीं सदी स्त्री के लिए वरदान साबित हुई है। मन में जल रही मुक्ति के लौ को आधुनिक विचारों की हवा ने ज्वाला का रूप दिया। फलस्वरूप स्त्री–जीवन तथा स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आये। इसमें सांस्कृतिक नवोत्थान शैक्षिक संस्थाएँ एवं स्त्रीवादी आंदोलनों का भी विशेष योगदान रहा है। शिक्षा, रोजगार के अवसर, आर्थिक स्वतंत्रता से वह मंडित होने लगी। उसकी दुर्बलताओं का प्रस्फुटन विद्रोह, आक्रोश और संघर्ष के रूप में हुआ है।

भूमंडलीकरण, बाजारवाद और तकनीक के इस दौर में स्त्री की दुनिया में पर्याप्त अंतर आया है। बड़ी संख्या में स्त्री कथाकार सामने आ रही हैं और खुलकर लिख रही हैं। समकालीन उपन्यासों में यह परिवर्तन भिन्न–भिन्न रूपों में प्रतिध्वनित हो रहा है। समकालीन स्त्री उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री के बदलते जीवन संदर्भ, बदलती मानसिकता तथा संघर्ष को विशेष स्थान दिया है। स्त्री–मुक्ति में स्त्री–लेखन का विशेष महत्व है। यह अनुभूत, भोगे हुए यथार्थ का चित्रण है। स्त्री होने की पीड़ा स्त्री ही जानती है। इस संबंध में राजकिशोर कहते हैं– "पुरुष लेखक कितनी भी संवेदनशीलता दिखाए, वह स्त्री का अपना वृत्तांत नहीं लिख सकता। स्त्री के पक्ष में लेखन पुरुष का आदर्शवाद है, जबकि अपने पक्ष में स्त्री का लेखन

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर (हिन्दी) मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़ (असम)

गोर्खा समाज में प्रचलित तीज पर्व का महत्व

-डॉ. उमा देवी

उत्तरपूर्वांचल के गोर्खा समाज में प्रचलित 'तीज' पर्व देश के अन्य कई क्षेत्रों में भी मनाया जाता है। जिनमें उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, झारखण्ड, हरियाणा आदि प्रमुख हैं। इन प्रदेशों में भी 'तीज' स्त्री प्रधान पर्व के रूप में ही मनाया जाता है। इससे जुड़ा आध्यात्मिक पक्ष एवं लोकविश्वास भी एक जैसा देखा जाता है। अन्तर है तो सिर्फ उसके कुछ सामाजिक रीति-रिवाजों में। कुछ प्रदेशों में विवाहित स्त्रियों को तीज में ससुराल से मायके लाने की अनिवार्यता नहीं देखी जाती। मायके वाले व्रत और सुहाग संबंधी सारी सामग्रियों को बेटी के ससुराल भेजते हैं।

गोर्खा समाज की विवाहित स्त्रियाँ इस शुभ तथा आनंदमय दिन की बेसब्री से प्रतीक्षा करती हैं। नव विवाहितों में इसे लेकर विशेष उत्साह देखा जाता है। परिवार की सभी बहनों का मायके में एकत्रित होना तथा सुख-दुख साझा करने का यह रिवाज ही 'तीज' के सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व को बढ़ा देता है।

प्रस्तावना :

संस्कृति किसी समाज के विश्वासों, भावनाओं एवं आदर्शों का सम्मिलित रूप है। समाज और संस्कृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति का आधार समाज है और समाज को सुचारू रूप से संचालित करने वाली पद्धति ही संस्कृति है। संस्कृति के आधार पर ही समाज या व्यक्ति विशे ा चिंतन तथा कार्य करता है। इस दृष्टि से उसकी सारी उपलब्धियाँ संस्कृति प्रेरित कही जा सकती हैं। व्यापक रूप में संस्कृति के अंतर्गत कला, संगीत, साहित्य, वास्तुकला, शिल्पकला, दर्शन, धर्म, विज्ञान के साथ-साथ रीति-रिवाज, परंपराएँ, पर्व, त्यौहार, जीवन यापन का ढंग, जीवन के विभिन्न पक्ष तथा व्यक्ति का दृष्टिकोण आदि सम्मिलित हैं। संस्कृति के समस्त रूप मनुष्य के आत्मिक और नैतिक विकास में सहायक होते हैं। मूलत: भौतिक विकास उसे सभ्य बनाता है तथा आत्मिक और नैतिक विकास उसे सुसंस्कृत बनाते हैं। संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में हस्तांतरित होती है। इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि संस्कृति का रूप स्थिर रहता है। यह परिवर्तनशील है। समय के साथ ज्ञान, विचार, परंपरा की दृष्टि से प्राप्त अनुभव संस्कृति में जुड़ते जाते हैं। अवांछित या अप्रासंगिक का त्याग तथा नूतन, प्रासंगिक रूप जुड़ता जाता है। महत्वपूर्ण है कि मनुष्य ही संस्कृति का निर्माता है तथा यही संस्कृति उसे मनुष्य बनाये रखती है। डॉ. ज्ञानचन्द्रगुप्त के अनुसार - "संस्कृति के अंतर्गत वे सभी काम करने, सोचने-विचारने, रहन-सहन के तौर तरीके

हिन्दी साहित्य

ISSN : 0975-3664, RNI : U.P.BIL/2012/43696
SHODH-DHARA ; Mar 2021; Vol. 1; P. 18-22

शिवमूर्ति के 'कुच्ची का कानून' में प्रतिबिंबित ग्रामीण चेतना

डॉ० उमा देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, **डिब्रूगढ़, असम**

(प्राप्त : २ नवम्बर २०२०)

Abstract

शिवमूर्ति की कहानियों में जहाँ ग्रामीण जन की सरलता, भोलापन, प्रेम, आत्मीयता प्रमुख है; वहीं विकृतियों, विषमताओं एवं विडंबनाओं की भी बेबाक अभिव्यक्ति हुई है। जात– पांत तथा पितृसत्ता के बहाने शोषित, पीड़ित, उपेक्षित दलित एवं स्त्री जीवन के विविध पक्षों के चित्रण में उन्हें अपार सफलता मिली है। उनके पात्र सदियों के शोषण, प्रताड़ना तथा एक तरफा समाज व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत शिवमूर्ति की स्त्री पात्र हिंदी साहित्य में विशेष छाप छोड़ती हैं। समाज की सबसे उत्पीड़न, लाचार एवं निम्न समझी जाने वाली स्त्रियों एवं दलितों द्वारा अस्मिता एवं अधिकारों के लिए संघर्ष को चित्रित करना शिवमूर्ति को प्रेमचंद, रेणु, नागार्जुन जैसे साहित्यकारों के समकक्ष खड़ा करता है। पात्र, भाषा, समाज, परिवेश तथा कथ्य का पारस्परिक सामंजस्य अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है। तमाम अभावों, समस्याओं में जकड़े ग्रामीणों की जीवंतता, जिजीविषा, जीवन के विष को पीकर मुस्कुराने का अदम्य साहस कहानीकार की आत्मीयता का परिचायक है।

Figure : 00 **References : 08** **Table : 00**

Key Words : ग्रामीण जीवन, दलित, स्त्री, पितृसत्ता, संघर्ष, प्रतिरोध

हिन्दी साहित्य के प्रखर जनवादी कथाकार शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन के चितेरे हैं। ग्रामीण जीवन को देखने और समझने हेतु उनकी कहानियाँ श्रेष्ठ माध्यम बन सकती हैं। गाँव में पले–बढ़े, रचे–बसे कथाकार शिवमूर्ति का लेखन अनुभव का लेखन है। उनका सृजनात्मक व्यक्तित्व गाँव की सोंधी मिट्टी की देन है। शिवमूर्ति की कहानियों से ज्ञात होता है कि उन्हें गाँव से अत्यंत प्रेम है। गाँव के नदी–नाले, तालाब, जंगल, पोखर, मेले–ठेले, जीव–जन्तु, गाय–बैल, नाना–नानी, मामा–मामी, भैया–भाभी आदि से उनका घनिष्ठ संबंध है। हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने शिवमूर्ति की कहानियों को फर्स्ट हैंड जानकारी का परिणाम माना है। सूक्ष्म से सूक्ष्म, छोटी से छोटी बातें भी उनकी आँखों से ओझल नहीं हो पाती। ग्रामीण जीवन को स्वयं देखा, भोगा और जिया है। यही कारण है कि पात्र, परिवेश, भाषा, समाज परस्पर धुले–मिले हैं। उनकी कहानियों में आत्मीयता का अलग स्तर देखने को मिलता है – "शिवमूर्ति की रचनाओं में प्रेमचंद के गावों का यथार्थ है, रेणु के गावों की गरीबी, करुणा और उन परिस्थितियों में मुस्कुराने का अदम्य साहस है और अपने समय के ज्वलंत मुद्दे हैं, जिनसे बार–बार मुठभेड़ करते हुए उनकी आत्मा लहूलुहान होती रहती है।"[१]

प्रस्तुत शोध पत्र में शिवमूर्ति की सन् २०१६ में प्रकाशित कहानी संग्रह 'कुच्ची का कानून' की प्रमुख तीन कहानियों का विश्लेषण है–(क) 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर', (ख) 'बनाना रिपब्लिक', और (ग) 'कुच्ची का कानून'। 'कुच्ची का कानून' संग्रह में ग्रामीण जीवन, उसकी समस्याएँ, गाँव की भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रमुख हैं। जहाँ ग्रामीण जनजीवन की सरलता, भोलापन, प्रेम, आत्मीयता,

Self Attested

दलित स्त्री की समस्याएँ और समकालीन कहानियाँ

*उमा देवी

विगत तीस–पैंतीस वर्षों से हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श या नारीवादी आंदोलनों पर मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, राजनौतिक और मानवीय दृष्टि से बहस हो रही है। स्त्री–जीवन से जुड़ी समस्याओं ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। जिसके फलस्वरूप अनेक संगठन और आंदोलनों का जन्म हुआ हैं। दूसरी ओर साहित्य में उपस्थित स्त्री–विमर्श बहुत गहराई से नारी–जीवन की विभिन्न समस्याओं को उजागर करता है। ध्यातव्य है कि सभी स्त्रियाँ समाज के एक ही स्तर और वर्ग की नहीं होती हैं। जाति, धर्म, क्षेत्र, वर्ग आदि के आधार पर हर स्त्री की परिस्थितियाँ और समस्याएँ भिन्न–भिन्न होती हैं। एक ही परिस्थिति और एक–चिंतन सभी स्त्रियों पर लागू नहीं किया जा सकता। अतः आम स्त्रियों और दलित स्त्रियों की समस्याएँ भी नितांत अलग–अलग हैं। दलितों की जो समस्याएँ हैं वे उन्हें दलितपन के कारण विरासत में मिली हुई हैं। दलित स्त्री केवल लिंग के आधार पर पुरूष सत्ता से शोषित नहीं हैं। वह जाति, धर्म के आधार पर जन्मजात अछूत मानकर सांस्कृतिक, सामाजिक बहिष्कारों की पीड़ा झेलती रहीं हैं। दलित स्त्रियों की कुछ समस्याएँ आम स्त्रियों की समस्याओं के समान हैं, किन्तु कुछ समस्याएँ केवल उनकी हैं। वास्तव में इनकी समस्याएँ आम स्त्रियों की समस्याओं से अधिक होने के साथ–साथ अधिक करूण भी हैं। इसका कारण है सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि सभी स्तरों पर इनका पिछड़ापन। गरीबी, अशिक्षा, जातिभेद तथा शोषण ने इन्हें प्रगति के आखिरी पायदान पर खड़ा कर दिया है। आज के संदर्भ में भारतीय समाज–व्यवस्था का सबसे ज्यादा उपेक्षित और प्रताड़ित वर्ग है–दलित स्त्री। सदियों से हिन्दूवादी समाज व्यवस्था, जाति व्यवस्था और सामंतशाही की वह शिकार होती रही हैं। आधुनिक भारत में भी दलित स्त्रियों को अपने सर्वांगीण विकास के पर्याप्त अवसर नहीं दिए गए। शिक्षा, ज्ञान और आर्थिक सक्षमता के लिए वह तरसती रही। पहली बार महात्मा ज्योतिबा फुले और बाबा साहब अंबेडकर ने स्त्रियों के उत्थान के लिए संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया। अपने अधिकारों के प्रति सजगता और चेतना लाने का प्रयास किया। अपने अस्तित्व के लिए लड़ने का साहस उनमें पैदा किया। समकालीन दलित स्त्री–आंदोलन के प्रणेता और मार्गदर्शक महात्मा फुले और बाबा साहब ही है। दलित आंदोलन की मुक्ति की मुहिम में स्त्री की मुक्ति सबसे पहले है। स्त्री के विकास के बिना दलित समाज का विकास संभव नहीं है। इस सच्चाई को दलित समाज जान गया है। अतः दलित मुक्ति आंदोलन में स्त्री–मुक्ति सर्वोपरि है। इसके लिए दलित स्त्रियों को अशिक्षा, अन्याय, अज्ञानता और शोषण से मुक्त होना होगा। लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव और उत्पीड़न से मुक्त होना होगा। विकास के समान अवसर प्रदान करने होंगे।

दलित स्त्री की स्थिति में सुधार के लिए बाबा साहब ने दलित नारी की मुक्ति को संवैधानिक रूप प्रदान किया हैं। संविधान के अनुसार स्त्री–पुरूष को समानाधिकार प्राप्त हैं। किसी भी व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव करना कानूनन अपराध है। दलित स्त्रियाँ

---

*असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी विभाग एम०डी०के० महिला महाविद्यालय डिब्रुगड़, असम संपर्क :– 08822124434

अपने अधिकारों के लिए कानून का सहारा ले सकती हैं। आज दलित नारी के उत्थान के लिए अनेक सरकारी योजनाएँ और कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। एक नए वौचारिक आंदोलन का जन्म हुआ है। जिससे इन स्त्रियों के जीवन–स्तर में काफी बदलाव आया है। इन बदलावों को समकालीन हिंदी कहानियों में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति मिल रही हैं। बदलाव के लिए छटपटाती स्त्रियों की समस्याओं और उनके संघर्ष पर अंबेडकरवादी कहानियों गहराई से चिंतन–मनन करती हैं। इस पर दलित लेखक और आलोचक जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं:–

"दलित स्त्री दलितों में दलित है और उसकी अभिव्यक्ति का साहित्यिक स्वरूप वही होगा जो उसके जीवन का यथार्थ है। अर्थात जो कुछ उसने जिया और भोगा है, जो बर्बरताएँ और यंत्रणाएँ उसने झेली हैं। कदम–कदम पर अभाव, उत्पीड़न और अपमान का जो दंश उसने सहा हैं, तन और मन पर जो जुल्म और ज्यादतियाँ उसने सही हैं, व्यवस्था के भटटी में जिस तरह उसका जीवन कोयला हुआ है, जिस कुण्ठा और संत्रास के बीच उसने बच्चे जने हैं और समाज के जंगल में भेड़ियों से घिरे रहकर भी कितनी कस्मकश से उसने अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा की है। यही सब उसके साहित्य में बिंबित होना चाहिए। इसमें उसका आक्रोश भी होगा।"[1]

दलित स्त्री जीवन की अनेक समस्याओं से जूझ रही हैं। उसमें प्रमुख समस्या है अशिक्षा। शिक्षा की कमी के कारण ये अंधकारमय जीवन यापन कर रही है। दलित समाज स्त्री शिक्षा को लेकर उदासीन रहा हैं। इसके पीछे भी हिन्दूवादी समाज व्यवस्था ही जिम्मेदार है। मनु ने दलितों को कभी शिक्षा का अधिकार ही नहीं दिया। वेदमंत्र उच्चारण करने पर जीभ काट डालने और वेदवाणी सुनने पर कानों में गलता शीशा डालने जैसे दंड का प्रावधान रखा। इस दंड नीति को धर्म का संबल प्रदान कर दिया। फलस्वरूप दलित समाज ने कभी शिक्षा की ओर कदम बढ़ाने का साहस ही नहीं किया। सोचिए जिस समाज में पुरूषों को शिक्षा का अधिकार न मिला हो, वहाँ स्त्रियों की शिक्षा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वैसे भी स्त्री दोयम दर्जे की प्राणी हैं। ऊपर से अधिक अंधविष्वासी और धर्मभीरू भी। अज्ञानता के अंधेरे को अपनी नियति मानकर अनेक समस्याओं से जूझती रही और आज भी स्थिति में ज्यादा अंतर नहीं आया है। समानता और शिक्षा का अधिकार मिलने के बावजूद दलित स्त्रियाँ यथावत स्थिति को झेल रही हैं। इसके पीछे प्रमुख कारण है:– चेतना की कमी। बाबा साहब अंबेडकर ने भी स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया था। उन्हीं के विचारों से प्रेरित समकालीन कहानीकारों ने स्त्री शिक्षा को विशेष महत्व दिया है। दलित स्त्रियाँ जब तक शिक्षित होकर संघर्ष के लिए तैयार नहीं होंगी, दलित आंदोलन सफल नहीं हो सकता। अतः समकालीन हिंदी कहानियाँ अशिक्षा के कारण उत्पन्न अनेंक समस्याओं को उजागर करती हैं और उन्हें दूर करने के लिए शिक्षा का मार्ग प्रशस्त भी करती हैं। सुशीला टाकभौरे, रजतरानी मीनू, डॉ कुसुम मेघवाल, कुसुम वियोगी, सूरजपाल चौहान, विपिन बिहारी, ओमप्रकाश वाल्मीकि, अनिता भारती आदि दलित कहानीकारों ने दलितों में स्त्री शिक्षा के लिए नई चेतना अपने सशक्त स्त्री चरित्रों के माध्यम से जगाई हैं।

सुशीला टाकभौरे की 'सिलिया' कहानी की सिलिया देखती है कि अस्पृश्य होने के कारण उसे एक गिलास पानी नहीं मिलता। मालती सवर्णों के कुएँ में पानी पीने पर पीटी जाती है। इन दो घटनाओं ने उसका पूरा जीवन बदल दिया। उसका वैचारिक अंतर्विरोध विपरीत स्थितियों के बीच गहन आंतरिक द्वन्द्व से विकसित होता है। वह सड़ीगली परंपराओं को बदल डालने का निश्चय करती है।

"मैं बहुत आगे तक पढूंगी, पढ़ती रहूँगी, उन सभी मूल कारणों का पता लगाऊँगी जिन्होंने हमें समाज में अछूत बना दिया हैं। मै विद्या बद्धि और विवेक से अपने आपको ऊँचा सावित करके रहूँगी। किसी के सामने झुकूँगी नहीं, न ही कभी अपना अपमान सहन करूँगी।"[2]

अंतत : सिलिया महान बिदुशी, समाजसेवी, कवियित्री और लेखिका बनकर अपने समाज का

199 - 202

Self attested

वर्णव्यवस्था : एक अभिशाप

डा० उमा देवी

भारत वह देश है जिसने जातीय आधार पर विभाजित समाज की त्रासदी की मार विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक झेली है। उससे देश की एकता व अखण्डता को भयंकर नुकसान पहँचा है। आज दलित लेखन इसी जातीयता के समाजशास्त्र की पोल खोल रहा है। इस जातीयता के मूल में है-वर्ण व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था वैदिक युग से चली आ रही है। किन्तु वैदिक में वर्ण व्यवस्था का रूप जातिगत नहीं था और न ही यह वंशानुगत था। संस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक में रामधारी सिंह दिनकर ने इतिहासकार मंगल देव शास्त्री के हवाले से बताया है कि वर्ण व्यवस्था अपनी प्रारम्भिक अवस्था में इतनी कठोर नहीं थी। एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे आना-जाना संभव था। बाद में मनु द्वारा प्रत्येक जाति को निर्दिष्ट धंधों में बांट देने का रिवाज वैदिक युग के बाद ही प्रचलित हुवा है। जिसका स्पष्ट उल्लेख मनुस्मृति में मिलता है। मंगलदेवशास्त्री के अनुसार मनुस्मृति से पहले एक वर्ण का व्यक्ति दुसरे वर्ण में आ-जा सकता था। इस समय मनुष्य के गुण और योग्यता को महत्व प्राप्त था। दलित विमर्श की भूमिका में दलित लेखक कंवल भारती ने जिस मन्वन्तर प्रथा और गुरुकुल प्रथा का उल्लेख किया, शायद मंगलदेव शास्त्री ने लोगो के वर्ण निश्चित करने वाली इन्ही प्रथाओं की ओर संकेत किया है। मन्वन्तर पद्धति में एक स्वतंन्त्र सत्ता द्वारा लोगों के वर्ण का निर्धारण किया जाता था। यह वर्ण व्यवस्था केवल चार वर्णों के लिए होति थी। प्रत्येक चार वर्ष बाद अधिकारीयों का एक नया दल नियुक्त किया जाता था। इस चुनाव प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर शुद्ध से ब्राह्मण व अन्य वर्ण में आ सकता था और ब्राह्मण भी शुद्ध हो सकता था। बाद में गुरुकुल पद्धति की शुरुआत हुई। गरुकुल में बारह वर्ष तक शिक्षा पाने का उपरांत उपनयन संस्कार द्वारा आचार्य

ISSN : 0975-3664
RNI : U.P.BIL/2012/43696

शोध धारा
SHODH DHARA

कला और मानविकी का त्रैमासिक, पीयर रीव्यूड, रेफर्ड एवं यू.जी.सी. केयर लिस्टेड, शोध जर्नल
[A Quarterly Peer Reviewed, Reffered, UGC Care Listed, Bi-lingual (Hindi & English) Research Journal of Arts & Humanities]

Year : 2021 **Month : March** **Vol. 1**

प्रधान संपादक
Chief Editor
डॉ0 (श्रीमती) नीलम मुकेश
Dr. (Smt.) Neelam Mukesh

60

संपादक
Editor
डॉ0 राजेश चन्द्र पाण्डेय
Dr. Rajesh Chandra Pandey

प्रकाशक : शैक्षिक एवं अनुसंधान संस्थान, उरई (जालौन), उ0प्र0
Published by : Shaikshik Avam Anusandhan Sansthan, Orai (Jalaun) U.P.

ISSN : 0975-3664 RNI : U.P.BIL/2012/43696

शोध धारा
SHODH-DHARA

कला और मानविकी का त्रैमासिक, पीयर रिव्यूड, रेफर्ड एवं यूजीसी केयर लिस्टेड शोध जर्नल (साहित्य, कला और संस्कृति पर केंद्रित)
(A quarterly peer reviewed, referred, U.G.C. care listed reseach journal of Art & Humanities)

Year 2021 March Vol. 1

अनुक्रम Contents

	शीर्षक	लेखक	पृ०सं०
शोध आलेख			
	✦ **हिन्दी साहित्य**		**1-167**
१.	भूमंडलीकरण और समकालीन हिंदी कविता	डॉ. शिवजी उत्तम चवरे	1- 6
२.	'आज बाज़ार बन्द है' : वेश्यामुक्ति की पहल	डॉ. मिनी जोर्ज	7-12
३.	आधुनिक हिन्दी कविता में अंतर्विषक संदर्भ	डॉ० मनोज कुमार स्वामी	13-17
४.	शिवमूर्ति के 'कुच्ची का कानून' में प्रतिबिंबित ग्रामीण चेतना	डॉ० उमा देवी	18-22
५.	कंचन सेठ की कविताओं में सामाजिक यथार्थ	डॉ० गोरखनाथ तिवारी	23-26
६.	स्त्री अस्मिता की आदर्श कथाकार कमल कुमार	डॉ० शशिकांत मिश्र	27-33
७.	भाषा : एक विमर्श	डॉ० अम्बिका उपाध्याय	34-40
८.	तमस उपन्यास में देश विभाजन की त्रासदी	विनोद कुमार मौर्य	41-47
९.	पर्यावरणीय संकट के संदर्भ में राजेश जोशी तथा ज्ञानेन्द्रपति की चिंता (भू–पर्यावरण के विशेष संदर्भ में)	डॉ० सुनीता शर्मा निम्रता	48-56
१०.	लीलाधर जगूड़ी के काव्य 'नाटक जारी है' में राजनीतिक चेतना	डॉ० विवेकानन्द पाठक	57-64
११.	ब्रज का लोकसाहित्य	डॉ० सूर्यकान्त त्रिपाठी	65-70
१२.	बुन्देली लोक काव्य में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना	सर्जना यादव	71-75
१३.	हिंदी और मराठी की गज़ल में सामाजिक विषमता की सशक्त अभिव्यक्ति	डॉ० नवनाथ गाड़ेकर	76-80
१४.	देहरी से देह तक पहुँचती : शैलजा पाठक की 'कमाल की औरतें'	डॉ० नीतू परिहार	81-87
१५.	परम्परागत ढाँचे से पृथक स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन का जीवंत दस्तावेज : 'राग दरबारी'	ज्ञानेन्द्र मणि त्रिपाठी	88-92
१६.	नई कहानी आंदोलन के अंतः सूत्रों की पड़ताल	डॉ० राम किंकर पाण्डेय	93-98
१७.	२१वीं सदी में मीडिया और हिन्दी का वैश्विक विस्तार	डॉ० अरूण कुमार चतुर्वेदी	99-103
१८.	इक्कीसवीं शताब्दी के नवगीत में स्त्री विमर्श के विविध आयाम	सीमा यादव	104-108
१९.	'एक न एक दिन' : रिश्तों के मर्म पर अर्थतंत्र का निर्मम	मृत्युंजय सिंह	109-116

हिन्दी साहित्य

ISSN : 0975-3664, RNI : U.P.BIL/2012/43696
SHODH-DHARA ; Mar 2021; Vol. 1; P. 18-22

शिवमूर्ति के 'कुच्ची का कानून' में प्रतिबिंबित ग्रामीण चेतना

डॉ० उमा देवी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, **डिब्रूगढ़, असम**

(प्राप्त : २ नवम्बर २०२०)

Abstract

शिवमूर्ति की कहानियों में जहाँ ग्रामीण जन की सरलता, भोलापन, प्रेम, आत्मीयता प्रमुख है, वहीं विकृतियों, विषमताओं एवं विडंबनाओं की भी बेबाक अभिव्यक्ति हुई है। जात– पांत तथा पितृसत्ता के बहाने शोषित, पीड़ित, उपेक्षित दलित एवं स्त्री जीवन के विविध पक्षों के चित्रण में उन्हें अपार सफलता मिली है। उनके पात्र सदियों के शोषण, प्रताड़ना तथा एक तरफा समाज व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत शिवमूर्ति की स्त्री पात्र हिंदी साहित्य में विशेष छाप छोड़ती हैं। समाज की सबसे उत्पीड़न, लाचार एवं निम्न समझी जाने वाली स्त्रियों एवं दलितों द्वारा अस्मिता एवं अधिकारों के लिए संघर्ष को चित्रित करना शिवमूर्ति को प्रेमचंद, रेणु, नागार्जुन जैसे साहित्यकारों के समकक्ष खड़ा करता है। पात्र, भाषा, समाज, परिवेश तथा कथ्य का पारस्परिक सामंजस्य अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है। तमाम अभावों, समस्याओं में जकड़े ग्रामीणों की जीवंतता, जिजीविषा, जीवन के विष को पीकर मुस्कुराने का अदम्य साहस कहानीकार की आत्मीयता का परिचायक है।

Figure : 00 **References : 08** **Table : 00**

Key Words : ग्रामीण जीवन, दलित, स्त्री, पितृसत्ता, संघर्ष, प्रतिरोध

हिन्दी साहित्य के प्रखर जनवादी कथाकार शिवमूर्ति ग्रामीण जीवन के चितेरे हैं। ग्रामीण जीवन को देखने और समझने हेतु उनकी कहानियाँ श्रेष्ठ माध्यम बन सकती हैं। गाँव में पले–बढ़े, रचे–बसे कथाकार शिवमूर्ति का लेखन अनुभव का लेखन है। उनका सृजनात्मक व्यक्तित्व गाँव की सोंधी मिट्टी की देन है। शिवमूर्ति की कहानियों से ज्ञात होता है कि उन्हें गाँव से अत्यंत प्रेम है। गाँव के नदी–नाले, तालाब, जंगल, पोखर, मेले–ठेले, जीव–जन्तु, गाय–बैल, नाना–नानी, मामा–मामी, मैया–भाभी आदि से उनका घनिष्ठ संबंध है। हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने शिवमूर्ति की कहानियों को फर्स्ट हैंड जानकारी का परिणाम माना है। सूक्ष्म से सूक्ष्म, छोटी से छोटी बातें भी उनकी आँखों से ओझल नहीं हो पाती। ग्रामीण जीवन को स्वयं देखा, भोगा और जिया है। यही कारण है कि पात्र, परिवेश, भाषा, समाज परस्पर धुले–मिले हैं। उनकी कहानियों में आत्मीयता का अलग स्तर देखने को मिलता है – "शिवमूर्ति की रचनाओं में प्रेमचंद के गावों का यथार्थ है, रेणु के गावों की गरीबी, करुणा और उन परिस्थितियों में मुस्कुराने का अदम्य साहस है और अपने समय के ज्वलंत मुद्दे हैं, जिनसे बार–बार मुठभेड़ करते हुए उनकी आत्मा लहूलुहान होती रहती है।"[१]

प्रस्तुत शोध पत्र में शिवमूर्ति की सन् २०१६ में प्रकाशित कहानी संग्रह 'कुच्ची का कानून' की प्रमुख तीन कहानियों का विश्लेषण है–(क) 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर', (ख) 'बनाना रिपब्लिक', और (ग) 'कुच्ची का कानून'। 'कुच्ची का कानून' संग्रह में ग्रामीण जीवन, उसकी समस्याएँ, गाँव की भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रमुख हैं। जहाँ ग्रामीण जनजीवन की सरलता, भोलापन, प्रेम, आत्मीयता,

जिजीविषा प्रमुख है। वहीं विकृतियों, विषमताओं और विडंबनाओं की भी बेबाक अभिव्यक्ति हुई है– "शिवमूर्ति की कहानियों का जितना साहित्यिक महत्व है, उतना ही समाजशास्त्रीय भी। आप उन्हे गाँव के 'रियलिटी चेक' के रूप में पढ़ सकते हैं। उसमें वह सकारात्मक पक्ष भी है, जिसे हम गाँव की थाती कहते हैं और वह नकारात्मक भी जो गाँव ने पुराना होते जाने के क्रम में धीरे–धीरे अर्जित किया। यथार्थ की इस समृद्धि की ओर ध्यान तब जाता है जब हम देखते है कि शिवमूर्ति गाँव और उनमें बसे मनुष्यों को गहन आत्मीयता देने के बावजूद इस परिवेश में व्याप्त संकट, दुख, विषमता और विसंगति को दृष्टि–ओझल नहीं होने देते। वे वहाँ व्याप्त आत्मविनाशी प्रवृत्तियों और लोकाचार के कारकों की शिनाख्त करते हुए उन पर प्रहार करते हैं।"[२]

ख्वाजा ओ मेरे पीरः कहानी के आरंभ में ही दिये गए वर्णन से ज्ञात होता है कि मामा और मामी का गाँव आजादी के पचास वर्षो बाद भी पिछड़ा हुआ है। गाँव के विकास के प्रति सरकार की उदासीनता और उससे उत्पन्न समस्याओं की अभिव्यक्ति हुई है। लेखक की नायिकाएँ सीधी–सादी, सरल, कर्मठ संवेदनशील ग्रामीण स्त्रियाँ हैं। आर्थिक दृष्टि से अत्यंत निर्धन हैं, किन्तु रिश्तों की अपार धनी। वे किसी की मामी, नानी, मौसी, चाची, दादी, भाभी, जैसे रिश्तों में बंधी हैं। तमाम अभावों के बावजूद ये अत्यंत सुंदर और आकर्षक हैं। ऐसा सौन्दर्य जिसमें कोई बनावटीपन नहीं, सौम्यता है। नानी के विषय में लेखक लिखते हैं–"नानी बहुत सुंदर थी। रंग गोरा और कद–काठी लंबी। बलिष्ठ। आखें नीली। जब की मुझे याद है कि विधवा होने के कारण वे मारकीन कि सफेद धोती पहनती थीं। लेकिन उस धोती में भी उनकी सुंदरता और मधुरता अद्‌भूत दिखती थी।"[३]

स्त्री शिवमूर्ति की कहानियों के केन्द्र में रही है। स्त्री समस्याएँ–शोषण, उत्पीड़न तथा कर्तव्य के बोझ तले दम तोड़ते सपने आदि प्रमुख हैं। आलोच्य कहानी की मामी भी इनमें से ही एक हैं। उनकी समस्या केवल उनकी न होकर ऐसी हजारों–लाखों स्त्रियों की पीड़ा है। मामा और मामी दोनों अपने–अपने वचन में बंधे हुए हैं। मामा अपने पिता को दिये वचन के लिए वैवाहिक जीवन के सुखों का बलिदान देते हैं। अपने परिवार के प्रति वे अपने दायित्व का हर हाल में निर्वाह करते हैं, यह प्रेरणीय और प्रसंशनीय है। फिर भी पाठक मामी के प्रति अन्याय बोध करता है। मामा का अपनी पत्नी के प्रति भी कर्तव्य निश्चित था। उन्होंने कभी मामी की इच्छा–अनिच्छा की परवाह नहीं की। तथापि वह कभी पति के कर्तव्य पथ पर बाधा नहीं बनी। उनमें दाम्पत्य जीवन को निभाने का आग्रह मामा की अपेक्षा अधिक है। 'वह रात–बिरात, आंधी–तूफान तक में' हर रात्रि दो कोस बीहड़ पार करके पति से मिलने निकलती। एक स्त्री होते हुए मामी ने लोगों के ताने, व्यंग, समाज किसी की परवाह न कर मिलने का साहस किया। मामा कभी स्वयं चलकर उन तक नहीं पहुँचे। इस दृष्टि से भी कर्तव्य और धर्म दोनों का भार स्त्री पर अधिक है। मामी गाँव की सीधी–सादी स्त्री हैं जो सब कुछ त्यागकर पति का साथ, साहचर्य एवं संरक्षण चाहती है, परंतु उनकी चाहत कभी पूरी न हो सकी। मामी के शब्दों में उनकी वेदना फूट पड़ती है –"किस दावे से बुलावे तुम्हारे मामा को भैने? उन्हें हम लोगों से कोई लगाव नहीं है। यह तो गाँठ बंध जाने का धरम है जो निभाते आए हैं।"[४]

मामा और मामी जैसे उदाहरण आज के नगरों–महानगरों में मिलना दुर्लभ है। आधुनिकता, स्त्री सशक्तिकरण, पाश्चात्य प्रभाव, महत्वाकांक्षा तथा प्रगति के नाम पर मध्यमवर्गीय परिवारों में पारिवारिक विघटन का प्रतिशत बढ़ता जा रहा। कहीं न कहीं हम अपने नैतिक दायित्वों से पल्ला झाड़ने लगे हैं। हमारे धैर्य, त्याग तथा कर्तव्यनिष्ठा जैसे मूल्य तिरोहित हो रहे हैं। शिवमूर्ति जहाँ ग्रामीण समाज और

संस्कृति के सकारात्मक एवं मानवीय पक्ष को बड़े सुंदर ढंग से उजागर करते हैं, वहीं इस पर पड़ते कुप्रभावों को भी नजरंदाज नहीं करते। हमारे गाँवों पर भी शहरी संवेदनहीनता, स्वार्थपरता तथा अमानवीयता का प्रभाव तेजी से पड़ रहा है। मामा और मामी के अथाह त्याग को नई पीढ़ी भुला देती है। जीवन की अंतिम संध्या में दोनों अपनों से उपेक्षित, तिरस्कृत एवं बहिष्कृत होकर जी रहे हैं। कहने को उनके पास अपनों का मेला लगा है, किन्तु पेट की आग मिटाने को रोटी देने वाला कोई नहीं। यह केवल मामा–मामी की पीड़ा नहीं, बल्कि हमारी नई पीढ़ी में बढ़ती संवेदनहीनता, कृतघता तथा ह्रास होते मूल्यों की पीड़ा, खो रही मानवता की चिंता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहानीकार का मानवीय मूल्यों तथा नैतिक दायित्वों को जीवित रखने का आग्रह है।

शिवमूर्ति की कहानियों के नायक, नायिकाएँ समाज के अति सामान्य और निम्न वर्ग के शोषित, पीड़ित, सदियों से उपेक्षित दलित, किसान, मजदूर और स्त्रियाँ हैं। गाँव में व्याप्त जात–पांत दीमक की तरह ग्रामीण संस्कृति और मानवता को खोखला कर रहा है। 'ख्वाजा, ओ मेरे पीर' भी दलित शोषण तथा उससे उत्पन्न प्रतिरोध की कहानी कहता है। नाना ठाकुर के वफादार थे। उन्होंने ठाकुर के लिए अपनी जान दे दी। उसी ठाकुर का बेटा जब मामाओं को उनके खेतों से बेदखल करना चाहता है तो वे सभी प्रतिरोध पर उतर आते हैं। ठाकुर के लिए यह प्रतिरोध आशा के विपरीत था। अतः वह भाग खड़ा होता है। लेखक इस प्रसंग में स्वयं कुछ नहीं बोलते, लेकिन दलितों को शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध एवं संघर्ष की आवश्यकता महसूस कराते हैं। दलितों को विद्रोह, संघर्ष, संगठन ही दमन तथा शोषण से मुक्ति दिलाएगा। आलोच्य कहानी में मामा की जिजीविषा पाठकों के हृदय को छू जाती है। जीवन में असह्य पीड़ा एवं दुख भोगने के पश्चात भी वे हार मानते नहीं। न ही जीवन का रोना रोते रहते। कहानी के अंत की पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। ससुराल से विदा होते वक्त उन पर डाले गए रंग में भीगकर कह उठते– "छिनरी ने पूरा भिगो दिया। ठंड लग रही है।" यह भीगना ही जीवन रस एवं प्रेम रस में भीगना है। उनके अंदर जीवन राग बह रहा है। मामा की जिजीविषा तमाम ग्रामीणों की जिजीविषा का प्रतीक है। तमाम अभावों और दुखों के बीच हास्य विनोद, उनकी सरलता शिवमूर्ति के पात्रों की विशेषता है। वे जीवन की कड़वाहट को हंसते–हंसते पी जाते हैं।

बनाना रिपब्लिकः आलोच्य कहानी में दलित दमन एवं शोषण की अभिव्यक्ति हुई है। जहाँ दलितों में राजनैतिक चेतना का विकास हो रहा। उनमें प्रतिरोध की क्षमता जागने लगी है। ठाकुर प्रधान के चुनाव में जग्गू को खड़ा करना चाहता है। ठाकुर की विवशता थी, प्रधान का सीट दलित के लिए आरक्षित होकर आया था। अतः अपने मोहरे को खड़ा करके मलाई चाटना चाहता है। इसे लेखक कैरेबियन देशों के गणतन्त्र की तरह मानते हैं। ठाकुर, पदारथ जैसे पात्र लोकतांत्रिक प्रणाली की धज्जियां उड़ाते हैं। प्रत्येक वोट की कीमत लगती है, उसकी नीलामी होती है। यह कहानी बताती है कि राजनीति में केवल राज रह गया, नीति भ्रष्ट हो गई। सदियों से उपेक्षित और शोषित दलितों में अपने अस्तित्व के प्रति जागृति आ रही है। वे समझने लगे हैं कि सत्ता में भागीदारी से उनकी सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति में सुधार होगा। वे अपने समुदाय को दलितपन के अभिशाप से निकाल सकेंगे। कहानी का नायक जग्गू स्वयं इस परिवर्तन को महसूस करता है। जो ठाकुर सदैव उसका अपमान करता था, आज उसके लहजे में परिवर्तन आया है–"यह देखकर बड़ी राहत महसूस हुई कि आज उसे 'इज्जत' के साथ बुला रहा था ठाकुर–लिखो, सुनो, बैठो, देखो। पहले कि तरह लिख, सुन, बैठ, देख नहीं।"[५]

जग्गू, मुंदर तथा फुलझारी देवी को उम्मीदवार के रूप में उठाने वाले सारे सामंत शोषक समुदाय

के लोग हैं। कहानी इस सत्य का भी उद्‌घाटन करती है कि दलितों में फूट डालकर राज करने की साजिश रची जाती है। दलित स्वयं जाति के आधार पर बंटे हुए हैं। इसका फायदा मालिक वर्ग उठाते रहे हैं। दलितों की युवा पीढ़ी फूट डालो की राजनीति समझ रही है तथा अपने लिए रीढ़ वाला नेता चाहती है जो ठाकुरों की गुलामी न करें। कहानी के अंत में जग्गू का जे.एन. टाइगर बन जाना दलितों के अस्तित्व और स्थिति में आते परिवर्तन को दर्शाता है। ठाकुर का उस भीड़ में उपेक्षित होना, जुलूस का जग्गू के घर की ओर मुड़ जाना दलितों में जागते स्वाभिमान, विद्रोह, आत्मविश्वास तथा एकता की शक्ति का परिचायक है। अब वे गुलामी का जीवन जीने को तैयार नहीं है। कहानीकार ठाकुर को दलितों के हाथों लड्डू तथा पानी ग्रहण कराकर यह भी संकेत करते हैं कि जात–पांत और भेदभाव की राजनीति के समय का अंत हो रहा है। अतः तथाकथित शोषक वर्गों की मानसिकता में परिवर्तन आवश्यक है। 'बनाना रिपब्लिक' कहानी में सवर्ण और दलित स्त्री की स्थिति का भी वर्णन हुआ है। स्त्री सवर्ण हो या दलित उपेक्षा, अपमान तथा उत्पीड़न उसकी नियति रही है। अंतर इतना है कि सवर्ण स्त्रियों का शोषण चारदीवारी के अंदर लिंगीय एवं आर्थिक आधार पर होता है। दलित स्त्रियाँ घर–बाहर सभी स्थानों पर जाति, लिंग एवं अर्थ के आधार पर शोषण की मार झेलती हैं–"पिछड़ी या दलित औरतें तो सभा, जुलूस या मेले–ठेले में चली भी जाती हैं, सवर्ण औरतों की बड़ी आबादी अभी भी गाँव से बाहर नहीं निकलती। माइके से विदा हुई तो ससुराल में समा गई। ससुराल से निकलती हैं तो सीधे शमशान के लिए।"[6]

कुच्ची का कानून: यह कहानी हिंदी के वरिष्ठ आलोचकों द्वारा हिंदी कथा जगत की बेजोड़ कहानी मानी गई है। इसके केंद्र में स्त्री समस्याएँ प्रमुख हैं। शिवमूर्ति कुच्ची एवं सुघरा ठकुराइन के माध्यम से कई युगों से स्त्री पर होते रहे अन्याय एवं शोषण के लंबे इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं। अहिल्या गार्गी, सीता से लेकर आधुनिक युग तक सदा से स्त्री छली जाती रही। अहिल्या बेगुनाह होते हुए दंड की भागी बनी तथा गुनाह करने वाला पुरुष महान बना रहा। सदियों से पुरुषसत्ता इन्हीं मिथकों के सहारे स्त्री को नैतिकता का पाठ पढ़ाता रहा। आलोच्य कहानी में भी पुरुषसत्ता की मार झेलती ग्रामीण स्त्रियाँ चुपचाप अन्याय और उत्पीड़न सहती रही हैं। परिस्थितियों ने उन्हें धर्मभीरु एवं भाग्यवादी बना दिया किन्तु हमें भूलना नहीं चाहिए कि जीवन परिवर्तनशील है, कुछ भी शाश्वत नहीं। समय के साथ रीति–रिवाज, परम्पराएँ, मान्यताएँ केंचुली फेलती रहती हैं। इस परिवर्तन के लिए प्रतिरोध तथा अस्वीकार की चिंगारी का लगना आवश्यक है। 'कुच्ची का कानून' में कुच्ची उस चिंगारी को सुलगाती है। वह अपने पति बजरंगी की मृत्यु के लगभग दो साल उपरांत गर्भधारण करती है। यह गर्भ उसकी अपनी पसंद एवं जरूरत है। पति के मृत्युपरांत कुच्ची ने अपना जीवन सास–ससुर की सेवा में अर्पित कर दिया। वह देखती है कि अकेली औरत का जीना अत्यंत कठिन है। उसके चारों ओर जंगली जानवर नोंच खाने को दाँव लगाये बैठे हैं। बाहर की छोड़िए वह अपने ही घर में सुरक्षित नहीं होती। जेठ बनवारी उसे लूटने को तैयार बैठा है। उसे सहारे के लिए एक पुत्र की लालसा होने लगी। तभी कुच्ची ने बीज गिफ्ट लेने की बात जानी तथा स्वयं भी किसी पुरुष से बीज गिफ्ट लेकर गर्भ धारण किया। गाँव के इतिहास में यह पहली घटना थी। एक सातवीं पास स्त्री के ऐसे साहस ने गाँव में भूचाल ला दिया। भरी पंचायत में वह अपनी कोख पर अपने अधिकार की अभूतपूर्व घोषणा करती है। उसके तर्क के आगे पंच भी निरुत्तर हो जाते हैं– "जब मेरे हाथ, पैर, आँख, कान पर मेरा हक है, इन पर मेरी मर्जी चलती है तो कोख पर किसका होगा, उस पर किसकी मर्जी चलेगी, इसे जानने के लिए कौन कानून पढ़ने की जरूरत है।"[7]

कुच्ची अपने बच्चे के लिए अपना अकेले का नाम काफी मानती है। उसे किसी मर्द के नाम की

आवश्यकता नहीं। जब माँ अकेले नौ महीने बच्चे को पेट में रखकर पैदा करती है तो उसे किसी मर्द के छांव की जरूरत नहीं। पुरुषसत्तात्मक समाज में जहाँ स्त्री पुरुष के लिए वस्तु या संपत्ति समझी जाती रही। कुच्ची इस मानसिकता का प्रतिरोध करती है। कुच्ची एक ऐसे गाँव में परम्पराओं तथा पूर्वाग्रहों के विरुद्ध संघर्ष पर उतर आई है जहाँ सड़कों, स्कूलों और बिजली जैसे सुविधाएं भी पहुँची नहीं है। जहां एक नंबर बेड, प्वाईजन बेड के नाम से तथा बेड नंबर ७ बर्न बेड के नाम से प्रसिद्ध है। स्त्रियों पर अत्याचार इतने की प्वाइजन खाने वाली और आग में जलने वालियों की कभी कमी न रहती। ये दोनों बेड कभी खाली नहीं रहतें। निसंदेह यह संघर्ष गाँवों को गहरे गर्त से बाहर की ओर ले जाने के रास्ते के निर्माण का है। स्त्री के दमन, शोषण से अस्तित्व, अस्मिता एवं मुक्ति की स्पष्ट घोषणा है 'कुच्ची का कानून'। वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं–"एक भी ऐसा समकालीन रचनाकार नहीं है जिसके पास कुच्ची जैसा सशक्त चरित्र हो। यह चरित्र निर्माण क्षमता शिवमूर्ति को बड़ा कथाकार बनाती है।"[८]

निष्कर्षः उपर्युक्त तीनों कहानियों 'ओ ख्वाजा मेरे पीर', 'बनाना रिपब्लिक' एवं 'कुच्ची का कानून' के अध्ययन–विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि शिवमूर्ति की कहानियाँ ग्रामीण जीवन से सरोकार रखती है। ग्रामीण जीवन से जुड़ी कहानियों में भूमंडलीकरण, सामंती शासन, उत्तर आधुनिक चिंतन से जुड़े कथ्य प्रभावी एवं यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। शिवमूर्ति का लेखन बनावटीपन से कोसों दूर है। उनकी कहानियों की रोचकता, भाषा की सरलता, घटनाओं की बुनावट कहानी के अंदर कहानी का चलना पाठक को कहानी से बांधे रखती है। इनके पात्र मुख्य रूप से गाँव के शोषित, उपेक्षित एवं पीड़ित दलित, स्त्रियाँ, किसान, मजदूर आदि हैं। इनकी कहानियों के केंद्र में पितृसत्तात्मकता, दलित और स्त्री उत्पीड़न, शोषण, बेरोजगारी, अशिक्षा, अंधविश्वास, पूर्वाग्रह तथा धीरे–धीरे यांत्रिकता की ओर बढ़ती संवेदनाएं, तिरोहित होते मूल्य प्रमुख हैं।

स्त्री जीवन की पीड़ा व दंश के विविध पक्षों एवं पहलुओं की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उनके स्त्री पात्र अपने साहस, त्याग, दृढ़ता, संयम जैसे उच्च मानवीय गुणों के साथ हिंदी साहित्य में मुकम्मल जगह बनाती हैं। समाज की सबसे पीड़ित, लाचार तथा अत्यंत सामान्य स्त्रियों द्वारा स्त्री अस्मिता के लिए संघर्ष को चित्रित करना शिवमूर्ति को अन्य कथाकारों से भिन्न बनाता है। वह बड़े बेबाक ढंग से समसामयिक प्रश्नों को उजागर करते हैं किन्तु स्वयं मुखर होकर उनके हल नहीं देते बल्कि घटनाओं द्वारा स्वयं ध्वनित होता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि शिवमूर्ति ने अपनी कहानियों में तेजी से बदलते गाँव, बदलते ग्रामीण जन, उनके सपने, इच्छाएं, आवश्यकताएँ, स्वीकार, विद्रोह, प्रतिरोध, भ्रष्टाचार, नैतिक पतन आदि को जिस संवेदना एवं सामर्थ्य के साथ अभिव्यक्त किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

संदर्भ

१. https://sablog.in/village-story-artist-shivamurthy-Mar-2020/7093
२. शिवमूर्ति, (२०१६), कुच्ची का कानून, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, आवरण पृ० से
३. वही, पृ० १० ४. वही, पृ० २० ५. वही, पृष्ठ ४५ ६. वही, पृष्ठ ३६
७. वही, पृष्ठ १३१ ८. वही, आवरण पृ० से

अपनी माटी

अपनी माटी
(साहित्य और समाज का दस्तावेज़ीकरण)
www.apnimaati.com
1300+ Articles II 40 Members' Team II UGC Care Listed II 39 Lakh+ Views II Quarterly E-Magazine II Since 2009

शोध : कबीर की प्रासंगिकता: वर्तमान संदर्भ / डॉ. उमा देवी

Gunwant शनिवार, जुलाई 31, 2021

कबीर की प्रासंगिकता: वर्तमान संदर्भ / डॉ. उमा देवी

शोध-सार :

कबीर युग दृष्टा कवि थे। उनका व्यक्तित्व, उनकी वाणी युगीन परिस्थितियों की देन है। कबीर ने अपने वर्तमान को ही नहीं भोगा बल्कि भविष्य की समस्याओं को भी पहचाना।कबीर का समाज जात-पांत, छुआछूत, धार्मिक पाखंड, मिथ्याडंबरों, रुढ़ियों, अंधविश्वासों, हिन्दू-मुस्लिम वैमनष्य, शोषण-उत्पीड़न त्रस्त तथा पथभ्रष्ट था। समाज के इस पतन में धर्म, धर्मशास्त्रों तथा धर्म के ठेकेदारों की अहम भूमिका थी। कबीर ने समय की नस को पहचाना। समाज के मार्गद एक बड़े संघर्ष एवं परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की। तत्कालीन विकृतियों और विसंगतियों के खिलाफ लड़ने की अथक दृढ़ता एवं सत्य की साधना क साहस उन्हें जीवनानुभवों से मिला। उन्होंने जिन सामाजिक, सांस्कृतिक विषमताओं के खिलाफ आजीवन संघर्ष किया, वे आज भी यथावत हैं। कबीरदास का आंदोलन आज भी वर्ग-विहीन समाज के निर्माण, मानवता की बहाली, प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द, आडंबरहीन भक्ति तथा नैतिकता के निर्माण के लिए नितांत प्र है।

बीज-शब्द : कबीर, समाज, विकृतियों,विरोध, संघर्ष,प्रासंगिकता।

मूल-आलेख :

हर युग का साहित्य अपने युग का आईना होता है। उसमें युगीन चेतनाएँ, विसंगतियाँ एवं विद्रूपताएँ अपने यथार्थ रूप में सन्निहित होती हैं। एक र रचनाकार केवल अपने समय को नहीं जीता बल्कि अपने अतीत और भविष्य में भी रचता-बसता है। वह समाज से मूल्य ग्रहण कर उन्हें संवर्द्धित, परिष्कृत क के लिए उपयोगी, सार्थक तथा स्वस्थ मूल्यों का निर्धारण करता है। ऐसा साहित्य अपने युग का इतिहास होने के साथ-साथ युगांतकारी तथा कालजयी होता है। समय में हमारे चारों ओर बढ़ती जटिलताओं, विडंबनाओं एवं विसंगतियों के कारण बार-बार पूर्ववर्ती साहित्य एवं विचारों की प्रासंगिकता की मांग बड़ी है। ऐसा साहित्य जो हमारी सत वृत्तियों का मंडन कर असत वृत्तियों का खंडन करने के साथ-साथ मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर समाज को भविष्योन्मुख बनाने को हो,सदैव प्रासंगिक रहता है। रमेशचन्द्र शाह रचना की प्रासंगिकता पर लिखते हैं– "रचना की प्रासंगिकता का निकष इकहरा नहीं हो सकता, क्योंकि वह र प्रासंगिकता का निकष है, जिसकी रचनात्मकता काव्य, संस्कृति के मूल्यों पर भी प्रासंगिक हो। उसके साथ-ही-साथ रचना वह प्रासंगिक है जो अपने समय व सच्चाईयों का उनकी पूरी जटिलता में साक्षात्कार कराती हो। यह दोहरी प्रासंगिकता रचना की राह में हर अवरोध को, हर रचना-द्रोही परिस्थितियों को तोड़ने वा और मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाली होगी। जाहिर है कि यह तभी हो सकता है, जब रचना मात्र समसामयिक ही न हो बल्कि मनुष्य मात्र की को कुंठित करने वाले हर खतरे को सूंघ लेने वाली हो। अतीत की होकर भी वर्तमान को भी पहचानने वाली हो।"1

मध्ययुग में कबीर और संतों की वाणी ने जो अलख जगाया वह आज भी उतना ही महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है जितना तत्कालीन युग में था। कबीर अपने उपज हैं। युगीन परिस्थितियों एवं समय की मांग ने उनके व्यक्तित्व को गढ़ा। वे सारग्राही महात्मा थे। जिन्होंने अपने समय में प्रचलित सभी मत-मतांतरों के सार क किया। उन्हें अपने तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसा, जो विश्वास, मान्यताएँ, मानवता, नैतिकता एवं भक्ति की राह में व्यर्थ बाधक थे उनका विरोध किया। सच्चे भक्त होने के साथ-साथ एक प्रखर, तेजस्वी, स्पष्ट वक्ता, साहसी, निर्भीक, निरभिमानी, विनय, सहृदय, परदुःखकातर आदि गुणों के धनी थे। स कुरीतियों, रूढ़ियों-आडंबरों, दुराचार, पाखंडादि का जैसा तीव्र विरोध उनमें देखा जाता है, वह अद्वितीय है। मध्ययुग मुगलों के आक्रमणों, धर्मांतरण, देशी राज विलासिता, धार्मिक पाखण्डादि से उपजे असुरता, भय, कुंठा, सांप्रदायिकता, रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं कुरीतियों का युग था। हताश-निराश जनता मंत्र, योग, ज छुआछूत, सामंतशाही, दमन-शोषण से त्रस्त थी। समाज नैतिक पतन के गहरे गर्त में गिर रहा था। ऐसे में संत कवियों ने समय की नस को पकड़ा। उन्होंने जो क अनुभव से कहा। जो देखा, भोगा और सहा उसी की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कबीर की वाणी है।

कबीर से लेकर अन्य सभी संत समाज के अति सामान्य समझे जाने वाले पेशे से संबंध रखते थे। ये मोची, बुनकर, दर्जी, धोबी, लोहार आदि थे। समाज जातियों-उपजातियों, विभिन्न वर्गों में विभाजित था। फलस्वरूप जातिप्रथा तथा भेदभाव ने समाज को खोखला कर दिया था। मानवता कराह रही थी। कबीर मानव समानता के पक्षधर थे। उनके अनुसार ऊँचे कुल में जन्म लेने से या ब्राह्मण होने मात्र से कोई ऊँचा या श्रेष्ठ नहीं हो जाता। मनुष्य अपने आचरण एवं सुंदर कर्मों बनता है। सोने के कलश में मदिरा भरा हो तो निंदनीय हो जाता हैं-

"ऊँचे कुल का जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होइ।

सोबन कलस सुरै भरया, साधू निंदत सोइ॥"[2]

कबीर का युग सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अनास्था, विघटन और वर्जनाओं का युग था। इनके पोषण में धर्म की अहम भूमिका थी। सामाजिक, राजनैति निर्णयों के आधार धर्मशास्त्र होते थे। कहने को यह धर्म था परन्तु मानवीय धरातल पर अधर्म से कम नहीं। जो धर्म समाज, आस्था, राजनीति सभी के मूल में समाज के एक वर्ग के शोषण, उत्पीड़न एवं अन्याय के लिए जिम्मेदार भी था। जिन्हें पूजा-पाठ, पठन-पाठन तथा समता का कोई अधिकार प्राप्त न था। वे अछूत सभ्य कहे जाने वाले समाज के लिए। अतः कबीर ने ईश्वर भक्ति सबके लिए सुलभ बनाई निर्गुणोपासना के द्वारा। निर्गुण भक्ति ने समाज के निम्न वर्गों के लिए भ धर्म का द्वार खोल दिया। इसमें मंदिर, मस्जिद, मूर्ति, छापा-तिलक, पंडित, मंत्रादि किसी कर्मकांड की कोई जगह न थी। कबीर ने समाज को अहसास दिलाया कि और भगवान किसी की पैतृक संपत्ति नहीं है। उस पर सभी का अधिकार है। भक्ति के लिए किसी विशेष क्षण, तिथि, वेशभूषा, कर्मकांड, स्थान की आवश्यक होती। कहीं भी, किसी भी वक्त सोते-जागते, खाते-पीते, घर बैठे, काम करते भक्ति की जा सकती है। बशर्ते उसमें सच्चाई, सरलता और प्रेम निहित हो। क अनुसार भक्त और भगवान का प्रेम स्वार्थहीन होता है। सच्चे प्रेम से भगवान को पाया जा सकता है। कबीर भक्ति में प्रेम को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि अभाव में भक्ति निरर्थक और दंभमात्र है।

पाखंडी ही ईश्वर को पाने के लिए पूजा-व्रत, तीर्थ, मक्का-मदीना, मंदिर तीर्थादि में भटकते फिरते हैं। फिर भी उन्हें ईश्वर नहीं मिलते। हिन्दू चौबीस एकादश और मुसलमान रमजान का एक महीना रोजा रखते हैं। उनसे कबीर पूछते हैं साल के दूसरे दिन ईश्वर कहा जाते हैं? हिन्दू पूर्वाभिमुख करते हैं और मु पश्चिमाभिमुख होकर नमाज पड़ते हैं। कैसे राम का देश पूर्व और रहीम का पश्चिम हो सकता है? राम और रहीम तो एक ही हैं। राम-रहीम की एकता का प्रतिप सारे देश को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य और भेदभाव की चौड़ी खाई को पाटने का कुशल प्रयास किया। मध्य समाज में मुगलों के आधिपत्य और अत्याचारों के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलमान विद्वेष ने आग पकड़ी होगी। परन्तु यह समस्या तो आज लगभग पाँच सौ साल ज्यों की त्यों है। देश सांप्रदायिक दंगों के घाव आए दिन झेल रहा है। दोनों धर्मों के नाम पर आपस में घात-प्रतिघात हेतु तत्पर रहते हैं। धर्म का वह स्वरूप लुप्त गया है जो हिन्दू और मुसलमान संप्रदाय में प्रेम, सौहार्द, भाईचारा एवं मानवता को बढ़ावा दें। ऐसे में कबीर पुनः प्रेरणा बनकर उभरते हैं –

"दुइ जगदीश कहाँ ते आए,कहु कौन भरमाया।

अल्लाराम करिम केशव हरि, हजरत नाम धराया॥"[3]

कबीर ने पवित्रता और श्रेष्ठता का ढोंग करने वाले मुल्ला-मौलवियों तथा हिंदुओं की पोल खोल कर रख दी है। हिन्दू स्वयं को श्रेष्ठ, ऊंच कुल का मानकर अ हाथों का पानी भी नहीं पीते। परंतु दूसरी ओर वेश्याओं के चरणों में पड़े रहते हैं। यही हिन्दुत्व है? दूसरी और मुसलमान भी अपने ही घर में सगाई करते हैं। करते हैं और पवित्रता का ढोंग करते हैं। यही इस्लाम है? दोनों ही धर्म के अनुयायी चारित्रिक दृष्टि से भ्रष्ट हैं। उनकी कथनी और करनी में पर्याप्त अंतर हैं। उनक जो सच्चा भक्त होता है वह सभी प्रकार की संकीर्णताओं, ऊँच-नींच, भेदभाव तथा अहं से ऊपर उठकर मानवता का संदेश देता है।

कबीर ने निर्गुण भक्ति के द्वारा धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक मुक्ति के प्रश्नों को उठाया। उसके मूल में मानवमात्र की समता, स्वतन्त्रता एवं भ भावना प्रमुख थी। इसने समाज के उपेक्षित और प्रताड़ित वर्ग में आत्मसम्मान की भावना जगाई। जिसने वैचारिक संघर्ष को जन्म दिया। अतः कबीर की निर्गु और उसका उद्देश्य मध्ययुग में जितना प्रासंगिक था, आज भी उतना ही प्रासंगिक बना हुआ है। स्वतंत्र भारत में वैधानिक रूप से सभी को समता, स्वतन्त्र समाधिकार प्राप्त हैं। बावजूद इसके समाज का एक विशाल वर्ग भेदभाव, छुआछूत, अशिक्षा, गरीबी से ऊबरा नहीं है। उनके लिए समता और स्वतंत्रता के मा होंगें? इस पर रवीद्र कुमार सिंह लिखते हैं- "संविधान में समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के अधिकारों की गारंटी के बावजूद व्यवहारिक दृष्टि से असमानता, प और पारस्परिक विरोध को ही बढ़ावा मिल रहा है। ऐसी स्थिति में संत कवियों की वैचारिक संघर्ष चेतना, उनकी जनतान्त्रिक अवधारणा, समानता और भाई आदर्श आदि हमारे लिए संघर्ष का एक नया मार्ग प्रस्तुत करते हैं। यह संघर्ष विभिन्न राजनीतिक-सामाजिक संगठनों के साथ ही साहित्य और कला के मोर्चे पर हुआ है। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आज की परिस्थितियों में संत-काव्य की प्रासंगिकता अधिक बढ़ रही है।"[4]

कबीर ने मध्ययुग में एक ऐसे सामाजिक, सांस्कृतिक, वैचारिक आंदोलन का सूत्रपात किया जो वर्तमान में वर्ग-विहीन समाज की ओर अग्रसर होने के लि प्रासंगिक है। उन्होनें जिन विसंगतियों, वर्जनाओं, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के खिलाफ आजीवन संघर्ष किया वे आज भी यथावत हैं। कबीर युगीन समाज को विकृतियों एवं अंधविश्वास ने खोखला कर दिया था। धर्म एवं भक्ति में बाह्याडंबरों की बहुलता थी। समाज की ऐसी दशा से वे विचलित हो उठे थे। कबीर के आडंबर ही समाज में लड़ाई-झगड़े, संकीर्णता और असहिष्णुता के कारण बनते हैं। आडंबरों से समाज में कभी स्थायी सुख, शांति एवं भाईचारे की बहाली सकती। समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए उन्होंने धर्म एवं भक्ति के बाह्याचारों का कड़ा विरोध कर सात्विक भक्ति पर जोर दिया। आज भी स्थिति बदली नहीं और भक्ति का रूप और विकृत होता जा रहा है। इनमें व्याप्त दिखावा, बाह्याचारों की प्रदर्शनी, बड़प्पन की मानसिकता ने समाज में संकीर्णता, असहिष्णुता, एवं अराजकता को बढ़ावा दिया है। हमारे तीर्थ स्थानों पर भक्ति नहीं लूट मची है। अतः कबीर आज भी प्रासंगिक हैं-

"मोको कहां ढूंढत बंदे, मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।

ना तो कौनो क्रिया करम में, नहीं जोग बैराग में॥"[5]

कबीर ने देखा कि तत्कालीन समाज में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अपने रास्ते से भटक गए थे। उनमें, बाह्याचारों की प्रधानता थी। सत्य, अहिंसा, त्याग, संतोष विकृत हो चुके थे। उनमें अपने धर्मों को लेकर मिथ्या दंभ एवं श्रेष्ठता बोध हावी होती जा रही थी। ऐसी मानसिकता को बढ़ावा देने वाले मुल्ला-मौलवी और पंडि अतः कबीर ने इनकी तीखी आलोचना की। ईश्वर घट-घट व्यापी हैं। उसे पाने के लिए किसी दिखावे की आवश्यकता नहीं। कबीर कहते हैं कि मुसलमान दिन रखते हैं और रात को गाय मारते हैं। कहाँ भक्ति और कहाँ हत्या? ऐसे परस्पर विरोधी कर्मों से ईश्वर कैसे खुश होंगे –

"दिन में रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।

कहं हत्या कहं बंदगी, कैसे खुशी खुदाय॥"6

कबीर ने हिन्दू समाज में व्याप्त भेष, तिलक, माला, योगाचार, व्रत, उपवास, श्राद्ध, तीर्थयात्रा तथा अन्य अनेक अंधविश्वासों की तीव्र आलोचना की। उनकी आ और विरोध युक्ति संगत एवं तर्कयुक्त हैं। कबीर ने भगवाधारी ठगों से भी समाज को सावधान किया है। उनके अनुसार केवल संतों जैसे वस्त्र धारण करने या कोई संत नहीं होता। प्रवृत्ति एवं व्यवहार में संत होना आवश्यक है। वर्तमान समाज में भी ऐसे भगवाधारियों की कमी नहीं है। कहने को तो संत हैं लेकिन आये दि विलास, झूठ-फरेब, सूरा-सुंदरी जैसे चारित्रिक, नैतिक पतन के गहरे गर्त में डूबे हुए हैं। आश्चर्य तो तब अधिक होता है जब इन ढोंगियों के पीछे हमारा शिक्षित-बु वर्ग हाथ जोड़े घूमता है। अतः आज फिर से कबीर को आत्मसात करने की महती आवश्यकता है –

"साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं

धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाहिं॥"7

कबीर समाज में प्रचलित अंधविश्वासों को उखाड़ फेंकना चाहते थे। हिंदुओं में यह विश्वास प्रचलित था कि काशी में मृत्यु होने पर स्वर्ग और मगहर में होने की प्राप्ति होती है। इस अंधविश्वास को तोड़ने के लिए उन्होंने स्वयं मगहर में महानिर्वाण लिया। उनका मानना है कि व्यक्ति अगर जीवन भर भक्ति नहीं करत कर्म नहीं करता तो केवल काशी में हुई मृत्यु से उसे स्वर्ग लाभ नहीं हो सकता। कबीर निष्ठाहीन व्यक्ति न थे। प्रेम, विनय, श्रद्धा, अहिंसा, सच्चाई, करुणा, दय जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति उनमें अपार विश्वास है। किन्तु उनकी श्रद्धा और निष्ठा तर्क पर आधारित है। तर्कहीन अंधविश्वास तथा रूढ़ियों के वे विरोधी रहे हैं।

इसी तरह कबीर श्राद्ध जैसे लोकाचारों का भी विरोध करते हैं। जब तक अपने माता-पिता या परिवार के बिजुर्ग जीवित हैं। उनकी सेवा-देखभाल करनी चाहि पूरा सम्मान और प्रेम देना चाहिए। मगर अक्सर देखा जाता है कि परिवार में बुजुर्ग उपेक्षित होते हैं। ऐसी अवस्था में उनके मृत्योपरांत किया जाने वाला श्राद्ध पितरों के नाम पर होने वाले श्राद्ध में पितर आकर क्या खाते हैं? वह अन्नादि तो कौवें और कुत्ते खाते हैं –

"जीवत पितर न मानै कोऊ, मुए सराद्ध कराही।

पितर भी बपुरे कहु क्यों पावहिं, कौवा कुकुर खाहीं॥"8

कबीर के ये विचार आज और प्रासंगिक हो गए हैं। आज के भागदौड़ के जीवन में व्यक्ति मशीन की तरह संवेदनहीन बनता जा रहा है। सब कुछ अकेले भ की लालसा ने एकल परिवारों को बढ़ावा दिया है। माँ-बाप, सास-ससुर बोझ बनने लगें। अतः बिडम्बना है कि जिस गति से मनुष्य प्रगति के सोपानों को छू वृद्धाश्रमों की संख्या भी तेजी से बढ़ रही हैं। जीवित रहते वक्त कोई नहीं पूछता सगे-संबंधियों को। घर में विद्यमान साक्षात पितरों को भर पेट अन्न और प्रेम के नसीब नहीं होते। मृत्योपरांत उनके नाम पर पिंड भर-भर दक्षिणा किये जाते हैं। जिनका कोई अंश पूर्वजों तक नहीं पहुंचता। कौवे-कुत्ते खा जाते हैं।

कबीर को मृत्यु से डर न था। वे इस रहस्य को समझ चुके थे कि मृत्यु अनिवार्य है। इस ज्ञान ने उन्हें निर्भय बना दिया था। यही कारण था कि उन्होंने सदै अन्याय और असंगतियों का विरोध किया। मुल्ला, मौलवियों, पंडितों और जोगियों से भी उलझ पड़ते थे। मृत्यु के भय से कभी सत्य का दामन नहीं छोड़ा –

"जा मरने से जग डरे मेरे मन आनंद।

कब मरिहौं कब पाइहों पूरन परमानंद॥"9

कबीर के ये विचार आज भी प्रासंगिक हैं। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है। अतः मनुष्य को चाहिए कि सत्य का साथ दे। मृत्यु करीब है यह जान से प्रेम तथा सदभाव रखें। तेरा-मेरा की दौड़ में जीवन को नष्ट क्यों करें? मनुष्य जीवन की क्षणभंगुरता को भूलकर अपने सुखों को चिरस्थायी बनाने हेतु रात-दि

मारी करता फिर रहा है। अपने लब्ध सुखों के आनंद को भी व्यर्थ कर दिया है। कबीर की दृष्टि में संसार व्यर्थ नहीं है बल्कि मनुष्य ने अपनी अज्ञानता के क दुखदायी बना दिया है। लोभ-लालच के कारण यहाँ छिना-झपटी, लूट-मार मची हुई है। फलस्वरूप ढोंग, छल-कपट, चमत्कार प्रदर्शन की होड़ लगी हुई है।

आज हम कोरोना महामारी की विकट परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। जहाँ जीवन-मरण के संग्राम में मानवता चित्कार उठी है। दवाइयों, ऑक्सीजन, सुविधाओं के अभाव में सांसे टूट रही हैं। ऐसे में भी समाज का एक वर्ग ऑक्सीजन, दवाई आदि की कालाबाजारी कर रहा है। हमारी मानवता और मानवीय सं पर भौतिकवादी सोच हावी हो गई है। अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य बड़े से बड़ा अमानवीय कृत्य करने को भी तत्पर दिखता है। ऐसे में कबीर फिर से पढ़े और सम चाहिए। जीवन की सार्थकता एवं व्यर्थता के उनके विचारों को पुनः आत्मसात करने की आवश्यकता आ पड़ी है।

मनुष्य जिस धन-संपत्ति को प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ बर्बाद कर देता है। कबीर के अनुसार उस धन का जीवन में कोई लाभ नहीं मिलता। क्य नैतिक-अनैतिक तरीके से कमाया हुआ होता है। धन के आधिक्य से भोग-विलास बढ़ता है और जीवन में पतनशील मूल्यों की वृद्धि होती है। भौतिक समृद्धि से व या महान नहीं हो सकता। खजूर का पेड़ कितना भी ऊँचा क्यों न हो जाएँ, वह सामान्य लोगों को फल और छाया प्रदान नहीं कर सकता। अतः कबीर धन सामाजिक उपयोगिता से आंकते हैं। जरूरतमंदों के प्रति स्नेहपूर्वक उनकी जरूरतों को पूरा करने वाला व्यक्ति ही बड़ा होता है। कबीर यह भी कहते हैं कि धन होने पर पारिवारिक आत्मीयता, शांति तथा स्नेह नष्ट हो जाती है। सज्जन वही होता है जो अपने दोनों हाथों से गरीबों पर धन खर्च करें, क्योंकि वे अपने लिये धन ए करतें -

"वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखे नदी न संचय नीर।

परमार्थ के कारने साधुन धरा सरीर॥"[10]

कबीर आर्थिक स्वार्थ को त्यागकर संयमित होने की शिक्षा देते हैं। मनुष्य अपनी जरूरत के अनुसार ही धन संचय करें। तभी समाज में समता, नैतिकता एवं की बहाली हो सकेगी। आर्थिक स्वार्थ से नैतिकता का ह्रास होता है।

पुस्तकीय ज्ञान के महत्व पर भी कबीर के विचार अत्यंत प्रासंगिक हैं। आज शिक्षा के कई आयाम हैं। तकनीकी विकास के साथ समृद्ध शिक्षा प्रणाली का दंभ हैं। बड़े से बड़े प्रमाणपत्र प्राप्त कर बुद्धिजीवियों की पंक्ति में खड़े हैं। सवाल यह है कि हम कैसी शिक्षा का दंभ भर रहे हैं? जो नैतिक एवं मानवीय शिक्षा से प मानव रूपी मशीन तैयार कर रहा है। स्वार्थ, संवेदनहीनता से लबरेज मनुष्य जीवन के सत्य से भटक रहा है। कबीर स्वयं पढ़े-लिखें नहीं थे। अनपढ़ और नीच होने के कारण काशी के पंडितों से उलाहना पाते रहें। कबीरकालीन समाज तथा आज भी लोगों में अंधविश्वास व्याप्त है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही पंडित, विद्वान कबीर इस धारणा को तोड़ते हुए कहते हैं कि सच्चा पंडित पुस्तकीय ज्ञान से नहीं बनता, बल्कि प्रेम में डूबकर बनता है। वे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा जीवन के तथा सच्चे प्रेम को महत्व देते हैं –

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होइ॥"[11]

निष्कर्ष :

कह सकते हैं कि कबीरकालीन विकृतियों, असंगतियों, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से आज भी हमारा समाज मुक्त नहीं हो पाया है। जात-पांत, छुआछूत, सांप्रद अशिक्षा, गरीबी जैसी विषमताएँ जड़ जमाये बैठी हैं। आर्थिक स्वार्थ, दंभ, नैतिक पतन ने व्यक्ति को संवेदनहीन और स्वार्थी बना दिया है। शोषण, उत्पीड़न, झू आज और भयानक रूप में देखा जा सकता है। अतः कबीर के समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व गढ़ने के विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। जिन मानवीय म स्थापना हेतु वे जीवनभर संघर्षरत रहें, उस संघर्ष की लौ को फिर से जीवित रखने की आवश्यकता आ पड़ी है। प्रेम, मानवता, सद्भाव, सौहार्द और नैतिकता क के लिए कबीर के विचारों का पुनः अनुसरण समय की मांग है। "वे हर जेल के खिलाफ 'आजादी' हैं, हर सत्ता के खिलाफ सृजनधर्मी विपक्ष हैं। कठमुल्ला पुरोहितवाद, कट्टरपंथ के खिलाफ अब कबीर के विपक्ष की जरूरत है।"[12]

संदर्भ -

1. रमेशचन्द्र शाह: *छायावाद की प्रासंगिकता*, वाग्देवी पॉकेट बुक्स प्रकाशन, बीकानेर,2003संस्करण, पृ. 156-157
2. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ रमेशचन्द्र मिश्र: *कबीर वचनामृत*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2005, पृ. 153
3. सुदर्शन चोपड़ा: *कबीर परिचय तथा रचनाएं*, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,नवीन संस्करण,2003, पृ. 31
4. रवीद्र कुमार सिंह: *संत-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2005, पृ. 16

5. सुदर्शन चोपड़ा: *कबीर परिचय तथा रचनाएं*, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,नवीन संस्करण, 2003,पृ. 35

6. रवीद्र कुमार सिंह : *संत-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2005, पृ. 86

7. सुदर्शन चोपड़ा: *कबीर परिचय तथा रचनाएं*, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,नवीन संस्करण,2003, पृ. 12

8. रवीद्र कुमार सिंह : *संत-काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2005, पृ. 88

9. सुदर्शन चोपड़ा: *कबीर परिचय तथा रचनाएं*, हिन्दी पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,नवीन संस्करण,2003, पृ. 38

10. वही,पृ. 26

11. विजयेन्द्र स्नातक, डॉ रमेशचन्द्र मिश्र: *कबीर वचनामृत*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, छठा संस्करण, 2005, पृ. 152

12. जीवन सिंह ठाकुर : 'मानवीय चेतना की मुख्यधारा और कबीर', *कबीरदास विविध आयाम*(प्रभाकर श्रोत्रिय),भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, प्रथम
2002, पृ° 97

डॉ. उमा देवी, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रूगड़- 786001 (असम)
msuma.chetri@gmail.com, 7896263212

अपनी माटी (ISSN 2322-0724 Apni Maati) अंक-35-36, जनवरी-जून 2021 चित्रांकन : सुरेन्द्र सिंह चुण्डावत

UGC Care Listed Issue 'समकक्ष व्यक्ति समीक्षित जर्नल' (PEER REVIEWED/REFEREED J

Tags 35-36 कबीर डॉ. उमा देवी भक्तिकाल शोध UGC Care Listed Issue

शेयर करें

LINKS TO THIS POST

POST A COMMENT

टिप्पणी डालें

‹ और नया

यह 'अपनी माटी संस्थान' चित्तौड़गढ़ (पंजीयन संख्या 50 /चित्तौड़गढ़/2013) द्वारा संचालित और UGC Care Approved Quarterly E-Journal 'अपनी माटी' है जिसका ISSN नंब 2322-0724 Apni Maati है। कला, साहित्य, रंगकर्म, सिनेमा, समाज, संगीत, पर्यावरण से जुड़े शोध, निबंध, साक्षात्कार, आलेख सहित तमाम विधाओं में समाजविज्ञान और साहित्य से सम्बद्ध रचनाएँ छपने और पढ़ने हेतु एक मंच है। कथेतर साहित्य छापने में हमारी रूचि है। यहाँ साल में चार सामान्य अंक प्रकाशित होते हैं। इसके अलावा कभी-कभी विशेषांक भी छप हैं। यह गैर-व्यावसायिक और साहित्यिक प्रकृति का सामूहिक प्रयासों से किया जाने वाला कार्य है। हमारा पता 'कंचन-मोहन हाऊस,1, उदय विहार, महेशपुरम रोड़, चित्तौड़गढ़-312025,राजस्थान' है। अन्य जरूरी प्रश्न हो तो 9460711896 (माणिक), 9001092806 (जितेन्द्र यादव) पर Only Whats App करके सम्पर्क कर सकते हैं, यहाँ कॉल पर बात नहीं होगी। हमारा ई-मेल पता apnimaati.com@gmail.com यह रहेगा।

विश्व हिंदी पत्रिका
2021
विश्व हिंदी सचिवालय
मॉरीशस

अनुक्रम

हिंदी : उद्भव एवं विकास

1.	संयुक्त राष्ट्र संघ की राजभाषाएँ और अनुवाद	- श्री सुनील भुटानी	2
2.	हिंदी प्रदेश की जनपदीय भाषा मगही	- डॉ. विजया सिंह	5
3.	उज़्बेकिस्तान में हिंदी के बढ़ते कदम	- डॉ. कमोला रख़्मतजानोवा	11
4.	हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता और प्रवासी साहित्य का अवदान	- डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा	14
5.	असम में बहती हिंदी की अविरल धारा	- डॉ. उमा देवी	20

हिंदी : लिपि, साहित्य एवं संस्कृति

6.	गंगा प्रसाद विमल के साहित्य में हाशिए के लोग	- डॉ. जयप्रकाश कर्दम	27
7.	भवानी प्रसाद मिश्र : तुम लिखते हो, मैं बोलता हूँ	- श्री बृजराज सिंह	32
8.	अमेरिकी हिंदी कहानियाँ	- डॉ. मुनिल कुमार वर्मा	39
9.	भारतीय साहित्य का प्रतिफलित आशय	- डॉ. मनीष कुमार मिश्रा	46
10.	हिंदी कविता में कश्मीर	- श्री उमर बशीर	51
11.	रामायण और रामचरितमानस : विश्व के पाँचों भूखंडों में	- प्रो. विजयकुमारन सी.पी.वी.	58
12.	मॉरीशस में महिला साहित्यकार और उनका लेखन	- डॉ. नूतन पाण्डेय	70
13.	कवि गिरिधर की प्रासंगिकता	- डॉ. लक्ष्मी झमन	79
14.	फ़िजी में हिंदी साहित्य	- श्रीमती श्रद्धा दास	83

हिंदी का ई-संसार और जन-माध्यम

15.	भारतीय अंकों का अंतरराष्ट्रीय रूप और विकास	- डॉ. परमानन्द पांचाल	90
16.	हिंदी सिनेमा में गांधी	- श्री राजेश अहिरवार	93
17.	मीडिया की दुनिया और नागरिक पत्रकारिता	- डॉ. मुकेश कुमार मिरोठा	98
18.	कनाडा में हिंदी पत्रकारिता	- डॉ. जवाहर कर्नावट	102
19.	ओटीटी प्लेटफ़ॉर्म पर हिंदी का भविष्य	- डॉ. साईनाथ विट्ठल चपले	107

हिंदी-शिक्षण

20.	राजभाषा अध्ययन की नई दिशाएँ	- डॉ. प्रशांत प्रसाद गुप्त	116
21.	हिंदी और ब्रजभाषा में प्रयुक्त पुरुषवाचक सर्वनाम और उनके कारकीय प्रयोग	- डॉ. शेफ़ाली चतुर्वेदी	121
22.	हिंदी भाषा की जागरूकता के प्रति बी.एड के प्रशिक्षणार्थियों के मंतव्यों का अभ्यास	- डॉ. दीपक कुमार रविशंकर पंड्या	138

असम में बहती हिंदी की अविरल धारा

- डॉ. उमा देवी
असम, भारत

आज हिंदी भारत में सबसे ज़्यादा बोली और समझी जाने वाली भाषा है। यह हमारे जीवन मूल्यों, संस्कृति, संस्कारों की संवाहक तथा संप्रेषक है। हिंदी केवल एक भाषा नहीं है, यह राष्ट्र के मान-सम्मान और गौरव का प्रतीक है। विश्व की लोकप्रिय तथा सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में दूसरा स्थान प्राप्त कर, हिंदी ने अपनी महत्ता सिद्ध कर दी है। हिंदी की सर्वव्यापकता, सरलता तथा उसका सर्वग्राही गुण, विविधताओं वाले देश को एकसूत्र में बाँधने की क्षमता ने इसे हमारी राजभाषा, अघोषित राष्ट्रभाषा, संपर्क भाषा तथा विश्वभाषा की मर्यादा से मंडित किया है। स्वतन्त्रता पूर्व जो हिंदी भारत के उत्तरी क्षेत्रों में सीमित थी, आज सम्पूर्ण भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों की संपर्क भाषा बन चुकी है।

तमाम विविधताओं वाले भारत के हर प्रांत की अपनी कोई-न-कोई प्रांतीय भाषा अवश्य है, जिसमें उस प्रांत के लोगों के विचारों का आदान-प्रदान होता है। दुविधा यह है कि जब किसी प्रांत या क्षेत्र की अपनी स्वीकृत प्रांतीय भाषा नहीं होती या फिर अनेक भाषा-भाषी जनसमुदाय होने के कारण एक-दूसरे की भाषा या बोली से अनभिज्ञ होते हैं, तो एक संपर्क भाषा की महती आवश्यकता होती है। भारत के पूर्वोत्तर के संदर्भ में विचार करें, तो यह हिंदीतर भाषा-भाषी क्षेत्र है, जहाँ अनेक जनजातीय भाषाएँ एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। 'असम' में क्षेत्रीय स्तर पर संपर्क और राजकीय कामकाज की भाषा असमिया है। यहाँ बोली जाने वाली भाषाओं में असमिया, बंगाली, बोड़ो एवं नेपाली अष्टम अनुसूची में शामिल हैं। शेष जनजातीय बोलियों को बोलने वालों की संख्या कम है या वे अविकसित स्थिति में हैं।

अतः ऐसी स्थिति में पूर्वोत्तर के अन्य प्रान्तों तथा शेष भारत से संपर्क हेतु हिंदी भाषा को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। असमवासियों में हिंदी की प्रगति के प्रति विशेष प्रेम एवं आग्रह देखा जाता है। जहाँ असमिया भाषा यहाँ के जातीय अस्तित्व की पहचान है, वहाँ हिंदी राष्ट्रीय भावना की। यहाँ हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के संदर्भ में लोकमान्य तिलक का मन्तव्य महत्त्वपूर्ण है - "निःसंदेह हिंदी दूसरे कार्यों के लिए प्रांतीय भाषाओं की जगह ले ही नहीं सकती। सब प्रांतीय कार्यों के लिए प्रांतीय भाषाएँ ही पहले की तरह काम में आती रहेंगी। प्रांतीय शिक्षा और साहित्य का विकास प्रांतीय भाषाओं के द्वारा ही होगा, लेकिन एक प्रांत दूसरे प्रांत से मिले तो, पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम हिंदी ही होनी चाहिए।"[1]

असम में हिंदी की स्थिति आज अत्यंत संतोषजनक है। मेरी दृष्टि में इसे असमिया हिंदी कहा जा सकता है, जिसमें असमिया भाषा के शब्द, शैली आदि का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। केवल संपर्क भाषा के रूप में ही नहीं, हिंदी आज असमिया भाषा के समानान्तर साहित्य की भी भाषा बनती जा रही है। अपने इस दृढ़ मुकाम को हासिल करने में हिंदी को लंबा सफ़र तय करना पड़ा है। अनेक उतार-चढ़ाव, स्वीकार-अस्वीकार को सहते हुए, असम में हिंदी पल्लवित और पुष्पित हुई है - "हिंदी मानव के बुद्धि-कौशल, विवेक-चिंतन, आचार-व्यवहार तथा संस्कृति की भाषा है। इसी में रचनात्मकता, व्यवहार-धर्मिता एवं गतिमयता है। राजा राममोहन राय ने हिंदी को 'युक्तिदायिनी', बंकिमचन्द्र चटर्जी ने इसे 'ऐक्य बंधन' का आधार तथा दयानन्द ने हिंदी को 'सर्वस्व' कहा। मुहम्मद इकबाल के अनुसार - "हिंदी हैं हम, वतन है हिंदोस्तां हमारा।"[2]

प्रस्तुत शोध-पत्र में असम में हिंदी की इसी यात्रा पर प्रकाश डालेंगे। असम में हिंदी की यात्रा का आरंभ मध्यकाल से माना जाता है। मध्यकाल अर्थात् हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग, अपनी सामाजिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से असमिया साहित्य का भी स्वर्ण युग कहा जा सकता है। उत्तर भारत में जहाँ सूर, तुलसी और कबीर के विचारों से साहित्य और संस्कृति समृद्ध हुए, वहीं पूर्वोत्तर भारत के असम में महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव ने अपने साहित्य एवं विचारों से समाज का मार्गदर्शन किया। शंकरदेव का समय पंद्रहवीं शताब्दी है। बारह वर्षों तक उन्होंने भारतवर्ष के विभिन्न तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। इस दौरान वे देश के अनेक महापुरुषों, दर्शनों, विचारों, साहित्य, भाषाओं आदि के संपर्क में आए। असम लौटकर उन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस पुनीत कार्य हेतु उन्होंने जिस साहित्य की रचना की, उसकी भाषा ब्रजबुलि है, जो ब्रजावली ही है। उन्होंने छः नाटक और बरगीतों (श्रेष्ठ गीतों) की रचना ब्रजबुलि में की। ब्रजावली तत्कालीन हिंदी थी। इस संबंध में प्रो. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री' लिखते हैं - "वे असम में हिंदी के प्रथम प्रयोक्ता के रूप में याद किये जाते हैं। उन्होंने असमिया, ब्रजावली (ब्रजबुलि) और संस्कृत में रचनाएँ की हैं।... ब्रजावली तत्कालीन हिंदी है।"[3]

आज हम हिंदी के रूप में जिस खड़ी बोली हिंदी को जानते हैं, उसका इतिहास भी असम के संदर्भ में काफ़ी पुराना है। अहिंदी भाषी क्षेत्र होने के बावजूद हिंदी के प्रति यहाँ के लोगों का अनुराग प्रेरणीय है। असम में अंग्रेज़ों का प्रवेश 1826 ई. में हुआ। अंग्रेज़ों के आगमन के साथ असम में बांग्ला और अंग्रेज़ी भाषा को महत्ता मिलने लगी। यहाँ के दूरदर्शी विद्वान रामखारघरिया फुकन बांग्ला, अंग्रेज़ी भाषा की अपेक्षा हिंदी अनुरागी थे। उन्होंने हिंदी सीखने पर अधिक बल दिया। हिंदी पुस्तकों के अभाव के कारण, उनका उद्देश्य सफल नहीं हो पा रहा था। अतः उन्होंने स्वयं हिंदी पुस्तकें तैयार करने की योजना बनायी। अपनी योजना का प्रारूप कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'समाचार दर्पण' के 19 मई, 1832 ई. के अंक में प्रकाशित किया। जिसमें हिंदी व्याकरण और अभिदान के संबंध में सूचना दी गई थी। दुर्भाग्यवश इस योजना को पूर्ण करने के पूर्व ही अति अल्पायु में उनकी मृत्यु हो गई। फलस्वरूप असम में हिंदी के प्रचार-प्रसार को गहरी चोट पहुँची और एक लंबे अंतराल तक यह कमी बनी रही। तथापि यह महत्त्वपूर्ण है कि 1832 ई. में ही असम में हिंदी सीखने और सिखाने की प्रवृत्ति जागृत हो गई थी। बांग्ला भाषा का प्रभुत्व एवं अंग्रेज़ों के भाषिक दमन के बावजूद असम में उत्पन्न होता हिंदी प्रेम यहाँ हिंदी के सुनहरे भविष्य की ओर संकेत करता है। भले रामखारघरिया फुकन की पुस्तक-योजना पूर्ण नहीं हो पाई, फिर भी उन्हें हम असम में हिंदी के प्रथम लेखक की श्रेणी में रख सकते हैं।

1832 ई. के लंबे अंतराल के पश्चात् 1918 ई. असम के इतिहास में हिंदी के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा। 1918 ई. में देशप्रेमी भुवनचन्द्र गोगोई ने शिवसागर के बकता ग्राम में 'असम पोलिटेकनिक इन्स्टीट्यूशन' नामक शिक्षा संस्थान की स्थापना की। 1926 ई. में इस संस्था में गोगोई ने हिंदी की शिक्षा एक अनिवार्य विषय के रूप में आरंभ कर दिया। कक्षा तीसरी से आठवीं तक हिंदी अनिवार्य विषय के रूप में तथा कक्षा नौवीं-दसवीं में ऐच्छिक रूप में पढ़ने-पढ़ाने का प्रावधान किया गया। इस संस्था को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त थी। अतः 1928 ई. में काशी, बिहार से अनेक हिंदी शिक्षक बुलाए गए। इससे हिंदी शिक्षण-कार्य को गति मिली। उनके पाठ्यक्रम को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के अनुरूप कर दिया गया। भुवनचन्द्र गोगोई के अथक प्रयासों से 1926 ई. से असम में अनिवार्य और ऐच्छिक रूप में हिंदी अध्ययन-अध्यापन का श्रीगणेश हुआ। इस प्रकार असम में हिंदी प्रचार-प्रसार एवं शिक्षण की व्यवस्थित परंपरा का आरंभ करने वाले प्रथम हिंदी प्रेमी भुवनचन्द्र गोगोई ही थे।

द्रष्टव्य है कि असम में हिंदी प्रेम का बीजारोपण बहुत पहले ही हो गया था, किन्तु गांधी जी की प्रेरणा

से ही हिंदी यहाँ फली-फूली। वे जितने देशप्रेमी थे, उतने ही हिंदी-प्रेमी। अतः उन्होंने हिंदी प्रचार-प्रसार का कार्यभार काका साहब कालेलकर को सौंपा। 1921 ई. में गांधी जी असम आए। तत्पश्चात् पूर्वोत्तर में हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए उत्तर प्रदेश से कर्मठ पुरुष बाबा राघवदास को 1934 ई. में असम भेजा गया। उन्होंने हिंदी प्रचार-कार्य के उद्देश्य से यहाँ के अनेक स्थानीय हिंदी प्रेमियों के साथ जोरहाट, डिब्रूगढ़, शिवसागर, नगाँव, गुवाहाटी, गोलाघाट आदि स्थानों का दौरा किया और उन्हें हिंदी प्रचार का दायित्व सौंपा। इस प्रकार 1934 ई. से 1937 ई. तक अंबिका प्रसाद त्रिपाठी को जोरहाट, शिवसिंहासन मिश्र को डिब्रूगढ़, सूर्यवंशी मिश्र को शिवसागर, देवेन्द्रदत्त शर्मा को नगाँव, धनेश्वर शर्मा को गुवाहाटी, बैकुंठनाथ सिंह को गोलाघाट में हिंदी प्रचारक नियुक्त किया गया। भारत माँ के इन सपूतों ने हिंदी प्रचार में अपना तन-मन-धन समर्पित कर दिया। प्रारम्भ में किसी समिति का गठन नहीं किया गया था। बाबा राघवदास देवरिया ज़िले के अपने बहरज आश्रम से ही पूर्वोत्तर में हिंदी के प्रचार-प्रसार का संचालन कर रहे थे। 1937 ई. में अहिंदी भाषियों को हिंदी का उत्तम ज्ञान कराने के उद्देश्य से चलाए गए शिविर में असम से नवीनचंद्र कलिता, रजनीकान्त चक्रवर्ती और हेमकान्त भट्टाचार्य को भेजा गया।

1938 ई. के अंत में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास के अनुभवी और दूरदर्शी प्रचारक जमुना प्रसाद श्रीवास्तव, असम में संचालक बनकर आए। बाबा राघवदास और जमुना प्रसाद श्रीवास्तव ने एक होकर प्रचार-प्रसार हेतु पूरे असम का दौरा किया। असम के तत्कालीन प्रधानमंत्री लोकप्रिय गोपीनाथ बरदलै के आग्रह पर उन्हीं की अध्यक्षता में 3 नवंबर, 1938 को 'हिंदी प्रचार समिति' की स्थापना की गई। उक्त संस्था की पहली बैठक 11-12-1938 में कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी में सम्पन्न हुई, जिसमें डॉ. हरेकृष्ण दास को समिति का अध्यक्ष तथा देवकान्त बरुवा को हिंदी प्रचार समिति का मंत्री पद प्रदान किया गया। इस बैठक में बाबा राघवदास, रमेशचन्द्र, बी. के. भण्डारी, नीलमणि फुकन, आर. डी. साही, जे. एन. उपाध्याय, ति. जो. स्माल आदि गणमान्य व्यक्ति भी उपस्थित थे। इसी अवसर पर गोपीनाथ बरदलै ने सरकार की ओर से समिति को 1200 रुपये वित्तीय अनुदान के साथ कक्षा पाँचवीं से हिंदी को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाए जाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार सरकार एवं स्वयंसेवी संस्था हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए एकजुट हो गए। जनता और सरकार के एकजुट होते ही काका साहब कालेलकर के प्रस्तावानुसार 'हिंदी प्रचार समिति' का नाम "असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति" रखा गया। 1942 ई. में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को स्वतंत्रता प्रदान कर दी। अतः अक्टूबर 1948 से इस समिति ने अपनी स्वतंत्रता का लाभ उठाते हुए परीक्षा संचालन, पाठ्य पुस्तकों का चयन एवं निर्माण का कार्य प्रारंभ किया।

1950-51 ई. में सरकारी अनुदान के सहयोग से समिति ने हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण केंद्र चलाने की योजना बनाई, जो अब राज्य सरकार के अधीन हो गई। इस केंद्र को 1951 ई. में सर्वप्रथम दुधनै, फिर मिसामारी और अंत में कार्बी आंग्लांग के डिफु में स्थानांतरित कर दिया गया। समिति अपने प्रचारकों द्वारा हिंदी का प्रचार-प्रसार बड़ी तत्परता से करती रही। कालांतर में सरकार के आदेश पर इन्हीं प्रचारकों को सरकारी माध्यमिक विद्यालयों में औपचारिक रूप से हिंदी पढ़ाने के लिए नियुक्त किया गया। शिक्षकों की कमी होने पर सरकार ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा से उत्तीर्ण व्यक्तियों को भी नियुक्त किया। आवश्यकतानुसार उन्हें प्रशिक्षण के लिए आगरा भी भेजा गया। समिति के गुरुत्तर कार्यों को देखते हुए 1961 ई. में शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अधीनस्थ, हिंदी निदेशालय ने अखिल भारतीय हिंदी शिक्षक संगोष्ठी के आयोजन का भार समिति को सौंपा। इसी वर्ष हिंदी के प्रचार-प्रसार हेतु राज्य सरकार को सलाह देने के लिए हिंदी सलाहकार समिति का भी गठन किया गया। 1958

ई. में सरकार ने हिंदी-निरीक्षक की आवश्यकता महसूस करते हुए, लोकनाथ भराली को इस पद के लिए नियुक्त किया। लोकनाथ भराली पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने 1952 ई. में काशी विद्यापीठ से हिंदी में एम. ए. किया था।

1973 ई. में असम सरकार ने पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की योजना बनाई। समिति के आग्रह पर सरकार ने पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य समिति को सौंप दिया। असम में हिंदी के प्रचार-प्रसार में 'असम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति', राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, का महत्त्वपूर्ण योगदान है। साथ ही, विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आज विद्यालयों में छठी कक्षा से आठवीं कक्षा तक अनिवार्य तथा नौवीं-दसवीं में ऐच्छिक विषय के रूप में हिंदी पढ़ाई जाती है। अधिकांश गैरसरकारी स्कूलों में कक्षा पहली से ही हिंदी पढ़ाई जाती है। उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की स्थिति संतोषजनक नहीं है, क्योंकि अधिकांश विद्यालयों में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था नहीं है, तो कहीं योग्य शिक्षकों की नियुक्ति का अभाव है।

महाविद्यालयों में हिंदी पठन-पाठन का कार्य 1961 ई. से आरंभ हुआ है। सर्वप्रथम प्रागज्योतिश कॉलेज, गुवाहाटी और डी. एच. एस. कनोई कॉलेज, डिब्रूगढ़ में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था की गई। तत्पश्चात् 1972 ई. में कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी में हिंदी ऑनर्स की पढ़ाई आरंभ की गई। आज लगभग असम के सभी महाविद्यालयों में हिंदी (क) आधुनिक भारतीय भाषा (एम. आई. एल.), (ख) प्रधान हिंदी (ऐच्छिक विषय), (ग) ऑनर्स के रूप में पढ़ाई जाती है। विश्वविद्यालयों की बात करें, तो हिंदी की बढ़ती लोकप्रियता एवं हिंदी प्रेमी विद्यार्थियों की बढ़ती संख्या को देखते हुए सर्वप्रथम गुवाहाटी विश्वविद्यालय में 1970 ई. में हिंदी विभाग खोला गया। आज प्रतिवर्ष लगभग साठ छात्र-छात्राओं का नामांकन होता है। सुखद विषय है कि इनमें लगभग 95% विद्यार्थी असमिया भाषी होते हैं। यहाँ 1984 ई. से निरंतर शोध-कार्य भी चल रहा है। कॉटन विश्वविद्यालय, असम विश्वविद्यालय एवं तेजपुर विश्वविद्यालय में भी हिंदी विभाग हैं। यहाँ स्नातकोत्तर की पढ़ाई के साथ-साथ शोध-कार्य एवं अनुवाद संबंधी पाठ्यक्रम भी चलाए जा रहे हैं।

अतः असम में विद्यालयों एवं महाविद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक हिंदी की स्थिति अत्यंत संतोषजनक कही जा सकती है। खेद इस बात का है कि 2009-10 ई. में डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग (स्टडी सेंटर) खोलने की स्वीकृति प्राप्त हुई। किन्तु शिक्षक नियुक्ति के अभाव में यह कार्य ठप्प पड़ा हुआ है। फलतः हिंदी में उच्च शिक्षा लेने के इच्छुक विद्यार्थियों को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

असम में हिंदी केवल प्रचार-प्रसार तक सीमित नहीं रही। इसमें पर्याप्त सृजनात्मक लेखन, अनुवाद कार्य भी किये गए और आज भी हो रहे हैं। इस कार्य में असम के असमिया भाषी हिंदी लेखकों तथा असमवासी हिंदी भाषी लेखकों की महत्त्वपूर्ण साझेदारी रही है। जिसमें कमल नारायण देव, चक्रेश्वर भट्टाचार्य, रजनीकान्त चक्रवर्ती, बापचन्द्र महंत, तरुण आज़ाद डेका, महेश्वर महंत, नवारुण वर्मा, चित्र महंत, डॉ. भूपेन्द्रराय चौधरी, परेशचन्द्र देव शर्मा, डॉ. हीरालाल तिवारी, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', डॉ. धर्मदेव तिवारी 'शास्त्री', डॉ. इंद्रदेव सिंह जैसे अनेक हिंदी प्रेमियों और साहित्यकारों के अथक प्रयास से असम में हिंदी फली-फूली। असम में हिंदी का पहला प्रेस 1936 ई. में शिवसिंहासन मिश्र ने डिब्रूगढ़ में 'मिश्र प्रेस' की स्थापना की थी। इसके पश्चात् 1957 ई. में असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने 'राष्ट्रभाषा प्रेस' की स्थापना की।

असम में हिंदी के प्रचार-प्रसार में यहाँ की पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रथम पत्रिका 1919 ई. में विश्वेश्वर दत्त शर्मा द्वारा संपादित 'प्रकाश' थी, जो डिब्रूगढ़ से निकली थी। इसके पश्चात् 'नव-जागृति' (1935), 'अकेला' (1947), 'शंखनाद' (1958), 'पूर्वज्योति' (1959), 'असम प्रदीप' (1972),

'नवध्वनि' (1976), 'जयहिंद' (1977), 'पूर्वगंधा' (1982), 'रजनीगंधा' (1984) आदि। उल्लेखनीय है कि असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की पत्रिका 'राष्ट्रसेवक' का असम में हिंदी का अलख जगाने में अतुलनीय योगदान है। आज यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित पत्रिकाओं की सूची में स्थान पाने में सक्षम हुई है। यह द्विभाषी पत्रिका हिंदी और असमिया में प्रकाशित होती है - "असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मुख पत्र "राष्ट्र सेवक" का हिंदी- असमिया भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रचार में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।"[4] वर्तमान समय में 'उलुपी' एवं 'समन्वय पूर्वोत्तर' पत्रिकाएँ भाषा और साहित्य के क्षेत्र में सेतु का कार्य कर रही हैं।

असम से प्रकाशित होने वाला हिंदी का प्रथम दैनिक समाचार-पत्र जी. एल. अग्रवाल द्वारा 16 मई, 1989 को प्रकाशित 'पूर्वाञ्चल प्रहरी' है। इसके अलावा 30 मई, 1989 ई. में प्रकाशित 'सेंटिनल' और 14 सितंबर, 1989 में प्रकाशित हिंदी दैनिक 'उत्तर काल' हैं। 1991 ई. को 'पूर्वाञ्चल प्रहरी' समूह ने साप्ताहिक 'सत्यसेतु', 30 मार्च, 1996 ई. को गुवाहाटी से सांध्य दैनिक 'द ब्लास्ट' एवं 2005 से प्रकाशित हो रहे 'पूर्वोदय' समाचार-पत्र प्रमुख हैं। आज भी पूर्वाञ्चल प्रहरी, सेंटिनल, पूर्वोदय खबर आदि दैनिक समाचार-पत्र नियमित रूप से प्रकाशित हो रहे हैं। इनसे हिंदी और उनका साहित्य दिन-ब-दिन समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं। साथ ही, असमिया और हिंदी साहित्य के अनुवाद कार्य को भी विशेष प्रोत्साहन मिलने से इस कार्य में गति आई है।

इस प्रकार हिंदी की बहती अविरल धारा ने मध्यकाल से लेकर आज तक पूर्वोत्तर भारत, विशेषकर असम को देश की मुख्यधारा, संस्कृति तथा राष्ट्रीयता से बाँधे रखा है। अंग्रेज़ी एवं बंगाली भाषा के प्रभुत्व के बावजूद असम के दूरदर्शी विद्वानों ने हिंदी को अपनाया। हिंदी हमारी एकता एवं राष्ट्रीयता की संवाहिका बनी। असम जैसे अहिंदी भाषी क्षेत्र में हिंदी के प्रचार-प्रसार में यहाँ के विद्वानों तथा हिंदी प्रेमियों ने तन-मन-धन लगाया। हिंदी की जनसुलभता और बोधगम्यता के कारण इसकी लोकप्रियता तीव्र गति से बढ़ी है। असमिया भाषा के समानान्तर हिंदी भी यहाँ की संपर्क भाषा बन चुकी है। हिंदी की लोकप्रियता एवं प्रचार-प्रसार में दूरदर्शन, फ़िल्म तथा आकाशवाणी की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। असम में हिंदी की अब तक की इस लंबी यात्रा में उसके शिक्षण-प्रशिक्षण, प्रयोग-प्रसार में शिक्षानुष्ठानों, प्रचार समितियों, पत्र-पत्रिकाओं, हिंदी सेवियों तथा लेखकों का अभूतपूर्व योगदान रहा है। इस कार्य में 'केंद्रीय हिंदी संस्थान', आगरा एवं 'केंद्रीय हिंदी निदेशालय', दिल्ली, हिंदी शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिये निरंतर पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों व संगोष्ठियों के आयोजन, मुफ़्त में पुस्तकें और हिंदी पत्रिकाएँ उपलब्ध कराने तथा यहाँ के अहिंदी भाषी लेखकों एवं अनुवादकों को पुरस्कार द्वारा प्रोत्साहित कर अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इन सबके अथक प्रयासों से ही वर्तमान असम में हिंदी की स्थिति अत्यंत सुखद कही जा सकती है। यह व्यापार, बाज़ार, संपर्क से लेकर शिक्षित-अशिक्षित सभी की भाषा बनती जा रही है, जो हिंदी के उज्ज्वल भविष्य को दर्शाता है।

हिंदी प्रेमियों को इतने में ही संतोष कर लेना पर्याप्त नहीं है। हिंदी के विकास की और संभावनाएँ यहाँ मौजूद हैं। जिसके लिए निरंतर प्रयासरत रहना आवश्यक है। यहाँ के सरकारी स्कूलों में जहाँ कक्षा छठवीं से आठवीं तक हिंदी शिक्षण अनिवार्य है, उसे कक्षा पहली से दसवीं तक करना आवश्यक है, जिससे विद्यार्थी जल्दी हिंदी सीख सकें। विद्यार्थियों को शुद्ध और मानक हिंदी सीखने तथा लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। प्राथमिक स्तर से ही हिंदी भाषा और व्याकरण के ज्ञान, हिंदी भाषा के महत्त्व तथा उसमें भविष्य जैसे उद्देश्यों को लेकर कार्यशालाओं का आयोजन करने से हिंदी पठन-पाठन में विद्यार्थियों की रुचि और बढ़ेगी। उनमें हिंदी अध्ययन-अध्यापन के प्रति रुचि पैदा करने हेतु इसे रोज़गारोन्मुख बनाना अति आवश्यक है। इस हेतु सरकार तथा स्वयंसेवी संस्थाओं, समितियों को एक होकर हिंदी के सर्वांगीण

विकास हेतु और कार्य करने होंगे, क्योंकि "राष्ट्र की एकता को यदि बनाकर रखा जा सकता है, तो उसका माध्यम हिंदी ही हो सकती है।"[5]

संदर्भ :

1. वंशी, डॉ. बलदेव (सं.), हिंदी के तीन पग : राजभाषा, राष्ट्रभाषा, विश्वभाषा, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2012, पृष्ठ - 25
2. प्रो. मोहन (सं.), समन्वय पूर्वोत्तर, अंक - 14, जनवरी - मार्च 2012, पृष्ठ - 135
3. चौबे, कृपाशंकर (सं.), हिंदी और पूर्वोत्तर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2018, पृष्ठ - 46
4. जीनी, डॉ. सी. इ., पूर्वाञ्चल प्रदेश में हिंदी भाषा और साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1990, पृष्ठ - 75
5. वंशी, डॉ. बलदेव (सं.), हिंदी के तीन पग : राजभाषा, राष्ट्रभाषा, विश्वभाषा, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2012, आवरण पृष्ठ से

msuma.chetri@gmail.com